

समरथ

जनवरी-मार्च, 2021 ♦ नई दिल्ली



अंगवाल (चिपको) आंदोलन

26 मार्च, 1974

ग्राम रेणी, चमोली गढ़वाल
गौरा देवी, बचना, गंगा, हिमा, रुपसा,
भक्ति, मासी, हरकी, मालती, फगली,
बाला, इतवारी, छमुन, सरला बेन, मीरा
बेन, जैसी अनगिनत साहसी महिलाओं के
संकल्प और प्रयासों को नमन!



वह पहाड़ी गीत जिसका अंगवाल (चिपको)

आंदोलन की सफलता में

बड़ा योगदान रहा। इस गीत को सुनकर

गांव के गांव एक साथ चल पड़े थे :

चिपका डाल्यु पर न कटण थावा,

पहाड़ो की संपति अब न लुटण थावा।

मालदार टेकेदार दूर भगोला,

छोटा-मोटा उद्योग घर मा लगुला।

हरियां डाला कटेला दुःख आली मारी,

रोखड व्हे जाली जिमी-भूमि सारी।

सुखी जाला धारा मंगरा, गाढ़ गधेरा,

कख बीटीन ल्योला गोर भेन्स्युं कु चारु।

चल बैणी डाली बचौला,

टेकेदार मालदार दूर भगोला।

भावार्थ :

चिपको आंदोलन के दौरान

प्रसिद्ध हुई इन पंक्तियों के माध्यम से

आंदोलनकारी महिलाओं ने

अपनी साथी महिलाओं से

पेड़ बचाने, प्रकृति बचाने

का आह्वान किया है।

वह कहती है कि

हमें पेड़ों से चिपक कर

उन्हें कटने से बचाना होगा और

बड़े टेकेदार, उद्योगपतियों को

भगाना होगा अन्यथा

हमारे नदी, झरने सब सूख जाएंगे।

जमीन को सूखने से बचाने के लिए

हमें अपनी हरी-भरी डालियों को

बचाना होगा।

नाहि तो जन्म नसाई

प्रसिद्ध समाजशास्त्री प्रो. अभिजीत पाठक ने इंडियन एक्सप्रेस में प्रकाशित अपने एक आर्टिकल में बड़े दुख के साथ ये बात कही है कि आज देश में ऐसे हालात पैदा हो गए हैं कि हमारे उच्च शैक्षिक संस्थानों में आजादी के साथ सोचना, तर्क-वितर्क करना, वाद-संवाद करना, प्रश्न करना या सवाल उठाना लगभग असंभव बना दिया गया है। इन संस्थानों के मौजूदा वातावरण में ऐसा लगता है कि देशद्रोही और षडयंत्रकारी ठहराए जाने के डर ने हम सबको अपंग बना दिया है। हालत ये है कि बहुत से अध्यापक इतने सतर्क हो गए हैं कि एक-एक शब्द नापतौल कर बोलते हैं और कोशिश करते हैं कि उनके मुंह से निकला हुआ हर शब्द राष्ट्रीयता की आज की प्रमुख विचारधारा की कसौटी पर खरा उतरे।

शिक्षा का उद्देश्य सोच के दायरे और मानसिक क्षितिज का विस्तार करना है और ये केवल ऐसे वातावरण में संभव है जहां आलोचना, तर्कपूर्ण विवेचना, तर्क-वितर्क और वाद-संवाद पर कोई पाबंदी न हो। दुर्भाग्य से हम एक ऐसे दौर से गुजर रहे हैं जब ये बातें एक सपना-सी बनती जा रही हैं और सवाल करने या सवाल उठाने वाला मस्तिष्क सबसे खतरनाक चीज बन गया है। हालत ये है कि हमारे अध्यापकों से अब ये अपेक्षा की जाती है कि वेतन लें और कोर्स पूरा कराएं। शिक्षा को किताबी ज्ञान तक सीमित रखें जो रोजगार हासिल करने में सहायक हो। अपनी कक्षाओं को वाद-संवाद या तर्क-वितर्क का केंद्र न बनने दें। मार्क्स, गांधी या अंबेडकर को पाठ्यक्रम तक ही सीमित रखें। दुनिया जहान में क्या हो रहा है, समाज किन समस्याओं से दो-चार है, हमारा देश किस दिशा में जा रहा है इससे हमारे छात्रों को कोई लेना-देना नहीं होना चाहिए।

शिक्षा के बारे में ये दृष्टिकोण पूरे देश और समाज के लिए अत्यंत घातक है। शिक्षा दिमाग के बंद दरवाजों को खोलती है और उसे हर तरह की जकड़बंदियों से मुक्त करती है और यही इसका उद्देश्य भी है। देश में सामाजिक उन्नति और जनतंत्र का अस्तित्व इस पर निर्भर है कि शिक्षा के इस उद्देश्य के साथ किसी तरह का समझौता न किया जाए। हमारे शैक्षिक संस्थानों में जिस तरह विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को कुचला जा रहा है वो इसका स्पष्ट संकेत है कि देश में उन शक्तियों का वर्चस्व बढ़ रहा है जो जनतांत्रिक व्यवस्था को अपने लिए बहुत बड़ा खतरा समझती हैं और उसे तबाह करने पर आमादा हैं। और उनकी ये कोशिशें किसी से ढकी-छिपी नहीं हैं और देश ही नहीं पूरी दुनिया इसको चिंताजनक नजरों से देख रही है। चुनावों के वाशिंगटन पोस्ट ने हमारे देश के हालात और शासन का आकलन करने के बाद अपने एक संपादकीय में लिखा है कि भारत का जनतांत्रिक देश होने का दावा संदेहप्रद है जिस पर प्रश्नचिह्न लगाना चाहिए। उसने सदन में कृषि कानूनों को बहस के बिना पास कराए जाने का भी उल्लेख किया है।

विश्वप्रसिद्ध अंग्रेजी साप्ताहिक पत्रिका द इकनॉमिस्ट ने भी 2020 के अपने डेमोक्रेसी इंडेक्स में भारत को 57वें पायदान नीचे रखा है। जबकि 2015 में वो इससे कहीं ऊपर 27वें नंबर पर था। इस भारी गिरावट का एक कारण 1915 के बाद से जनतांत्रिक मूल्यों पर बढ़ता हुआ दबाव, नागरिक स्वतंत्रता पर हमले, धर्म का बढ़ता हुआ प्रभाव, सांप्रदायिकता और धार्मिक नफरत बताया गया है। देश की बिगड़ती हुई इस छवि के बारे में इन टिप्पणियों पर ध्यान न देना अंधी देशभक्ति होगी।

2 • समरथ

जनवरी-मार्च, 2021



नागार्जुन

जनकवि

26 जनवरी, 15 अगस्त

किसकी है जनवरी, किसका अगस्त है ?
कौन यहाँ सुखी है, कौन यहाँ मस्त है ?
सेठ है, शोषक है, नामी गला-काटू है
गालियाँ भी सुनता है, भारी थूक-चाटू है
चोर है, डाकू है, झूठा-मक्कार है
कातिल है, छलिया है, लुच्चा-लबार है
जैसे भी टिकट मिला
जहाँ भी टिकट मिला
शासन के घोड़े पर वो ही सवार है
उसी की जनवरी छब्बीस
उसी का पन्द्रह अगस्त है
बाकी सब दुखी हैं, बाकी सब पस्त हैं...

कौन है खिला-खिला, बुझा-बुझा कौन है ?
कौन है बुलन्द आज, कौन आज मस्त है ?
खिला-खिला सेठ है, श्रमिक है बुझा-बुझा
मालिक बुलन्द है, कुली-मजूर पस्त है
सेठ यहाँ सुखी है, सेठ यहाँ मस्त है
उसकी है जनवरी, उसी का अगस्त है

पटना है, दिल्ली है, वहीं सब जुगाड़ है
मेला है, ठेला है, भारी भीड़-भाड़ है
फ्रिज है, सोफ़ा है, बिजली का झाड़ू है
फ़ैशन की ओट है, सब कुछ उघाड़ू है

पब्लिक की पीठ पर बजट का पहाड़ है
गिन लो जी, गिन लो, गिन लो जी, गिन लो
मास्टर की छाती में कै ठो हाड़ है !
गिन लो जी, गिन लो, गिन लो जी, गिन लो
मजदूर की छाती में कै ठो हाड़ है !
गिन लो जी, गिन लो, गिन लो जी, गिन लो
घरनी की छाती में कै ठो हाड़ है !
गिन लो जी, गिन लो, गिन लो जी, गिन लो
बच्चे की छाती में कै ठो हाड़ है !
देख लो जी, देख लो, देख लो जी, देख लो
पब्लिक की पीठ पर बजट का पहाड़ है !
मेला है, ठेला है, भारी भीड़-भाड़ है
पटना है, दिल्ली है, वहीं सब जुगाड़ू है
फ्रिज है, सोफ़ा है, बिजली का झाड़ू है
फ़ैशन की ओट है, सभी कुछ उघाड़ू है

महल आबाद है, झोंपड़ी उजाड़ू है
गरीबों की बस्ती में उखाड़ू है, पछाड़ू है
धत् तेरी, धत् तेरी, कुच्छो नहीं! कुच्छो नहीं
ताड़ का तिल है, तिल का ताड़ू है
ताड़ के पत्ते हैं, पत्तों के पंखे हैं
पंखों की ओट है, पंखों की आड़ू है
कुच्छो नहीं, कुच्छो नहीं...
ताड़ का तिल है, तिल का ताड़ू है
पब्लिक की पीठ पर बजट का पहाड़ू है
किसकी है जनवरी, किसका अगस्त है !
कौन यहाँ सुखी है, कौन यहाँ मस्त है !
सेठ ही सुखी है, सेठ ही मस्त है
मन्त्री ही सुखी है, मन्त्री ही मस्त है
उसी की है जनवरी, उसी का अगस्त है ।



प्रदर्शनों में शामिल औरतों पर आखिर सवाल क्यों उठाए जाते हैं?

■ चिंकी सिन्हा

एंश्रोपोसीन युग यानी आज के दौर में इंसानी गतिविधियों ने ग्लोबल वॉर्मिंग को जन्म दिया है और जीवों के कुदरती आवास को नुकसान पहुँचाया है। इंसान ने समंदर, मिट्टी और वायुमंडल की रासायनिक बनावट को तब्दील कर दिया है जिसकी वजह से बहुत से जीव धरती से विलुप्त हो गये हैं।

इन हालात में ऐसे आंदोलनों में महिलाओं की भूमिका और उनकी अहमियत बहुत बढ़ गई है जिनका तात्कालिक इंसानों को हासिल करने से है। महिलावादी कार्यकर्ता लंबे समय से कहते आये हैं कि दुनिया भर में सामाजिक और पर्यावरण व जलवायु संबंधी इंसानों की लड़ाई महिलाएं ही लड़ेंगी। “दिल्ली चलो आंदोलन” में महिलाओं की मौजूदगी इस बात का प्रतीक है। लेकिन, ये लड़ाई बेहद मुश्किल और दर्द भरी रहने वाली है।

इसकी वजह ये है कि हमारे समाज में मर्दवादी सोच की जड़ें बेहद गहरी हैं। पितृसत्तात्मक सोच ये मानती ही नहीं कि महिलाओं की अपनी भी कोई हस्ती है। किसान आंदोलन में मौजूद महिलाओं को लेकर आ रहे बयान और टिप्पणियाँ इसी बात का सबूत हैं।

एक सुनवाई के दौरान सुप्रीम कोर्ट ने सरकार के तीन विवादास्पद कृषि कानूनों को लागू

करने पर रोक लगा दी। मगर कृषि कानूनों से जुड़े मामलों की सुनवाई के दौरान, भारत के मुख्य न्यायाधीश शरद अरविंद बोबडे ने कहा कि “उन्हें यह जानकर अच्छा लगा कि बुजुर्ग महिलाएं और बच्चे इस विरोध प्रदर्शन में शामिल नहीं होंगे।”

इससे पहले 11 जनवरी को सुप्रीम कोर्ट ने कहा था कि वो ये आदेश जारी नहीं करेगा कि “नागरिकों को विरोध प्रदर्शन नहीं करना चाहिए।” हालाँकि चीफ जस्टिस बोबडे ने तब भी सवाल किया था कि “इस विरोध प्रदर्शन में महिलाओं और बुजुर्गों को क्यों शामिल किया गया है?”

जस्टिस बोबडे ने वरिष्ठ वकील एच एस फुल्का से कहा कि “वो आंदोलन में शामिल महिलाओं और बुजुर्गों को प्रदर्शन स्थल से घर वापस जाने के लिए राजी करें।”

महिलाओं के हक की बात— भारत के चीफ जस्टिस के ये विचार देश के सॉलिसिटर जनरल तुषार मेहता के उन खयालों से बहुत मिलते हैं, जिन्हें उन्होंने पिछले साल शाहीन बाग के विरोध प्रदर्शनों के हवाले से, सुप्रीम कोर्ट में बयान किया था। तब तुषार मेहता ने कहा था कि “प्रदर्शनकारियों ने अपने आंदोलन में महिलाओं और बच्चों को सुरक्षा कवच बनाया हुआ है।”

तब सर्वोच्च अदालत ने वरिष्ठ वकील

संजय हेगड़े की अगुवाई में प्रदर्शनकारियों से बात करने के लिए एक कमेटी बनाई थी। उस समय सुप्रीम कोर्ट ने कहा था कि “विरोध करना नागरिकों का बुनियादी हक है और लोग विरोध प्रदर्शन कर सकते हैं।”

लेकिन, इन बातों से जो बड़ा सवाल पैदा होता है, वो चिंतित करने वाला है। सवाल ये कि आखिरी देश के नागरिकों में किन-किन की गिनती होती है? और अगर विरोध प्रदर्शनों में महिलाओं को भी रखा जा रहा है, तो क्या जज साहेबान ये सोचते हैं कि महिलाओं की कोई हस्ती नहीं? किसान आंदोलन में शामिल महिलाएं सवाल उठाती हैं कि क्या उन्हें अपनी मर्जी से कुछ भी करने का हक नहीं है?

चीफ जस्टिस बोबड़े की इन टिप्पणियों को लेकर प्रदर्शनकारियों में नाराजगी जरूर है, मगर महिला आंदोलनकारियों को जस्टिस बोबड़े की बातों से कोई हैरानी नहीं हुई। इसकी वजह ये है कि ज्यादातर संस्थानों में मर्दों का दबदबा है। सुप्रीम कोर्ट का भी यही हाल है। ऐसे में महिलाओं का एकजुट होना और अपनी आवाज उठाना, उन्हें अखरता है।

शाहीन बाग के धरने से चर्चा में आई 82 बरस की बिल्कीस दादी कहती हैं कि महिलाएं हर काम में हिस्सा लेती हैं और उन्हें ऐसा करना भी चाहिए। वे कहती हैं कि “जब सवाल देश और उसके मूल्यों को बचाने का आएगा, तो यकीन जानिए इसकी अगुवाई महिलाएं ही करेंगी। हम उनके साथ हैं। इसका ताल्लुक ना उम्र से है, और इस बात से कि कोई औरत है या मर्द। हम सब बराबर हैं।”

महिलाओं को लेकर पूर्वाग्रही सोच—हरियाणा की महिला किसान नेता सुदेश गोयल कहती हैं कि किसान आंदोलन में शामिल महिलाएं बिल्कुल अपनी मर्जी से यहाँ आई हैं। वे कहती हैं कि “हर गुजरते दिन के साथ विरोध प्रदर्शन में महिलाओं की तादाद बढ़ रही है, खासतौर से हरियाणा से बड़ी तादाद में महिलाएं आ रही हैं। हम तब तक घर नहीं लौटेंगे जब तक ये कृषि कानून खत्म नहीं किये जाते। हम यहाँ इसलिए हैं क्योंकि एक महिला के तौर पर हमें अपने अधिकारों का अच्छी तरह से एहसास है।”

किसान आंदोलन में शामिल महिलाएं कहती हैं कि चीफ जस्टिस के बयान से महिलाओं को लेकर उनकी सोच का बचकानापन झलकता है। ये महिलाओं के प्रति उनकी ही नहीं, बल्कि पूरे समाज की पूर्वाग्रह भरी सोच है। तभी तो चीफ जस्टिस बोबड़े ये कहते हैं कि विरोध प्रदर्शन में महिलाओं को शामिल नहीं होना चाहिए।

विरोध-प्रदर्शन में शरीक महिलाएं, चीफ जस्टिस के बयान

को समाज की मर्दवादी सोच की नुमाइश के तौर पर देखती हैं। उनका कहना है कि हमारा समाज हर बात को पुरुषों की नजर से ही देखता है।

शाहीन बाग की हिना अहमद कहती हैं कि “उन्हें शायद ये एहसास ही नहीं है कि पूरी दुनिया में होने वाले आंदोलनों में महिलाएं शामिल होती रही हैं। ये महिला आंदोलनकारी ही हैं जो विरोध प्रदर्शन को शांतिपूर्ण बनाये रखती हैं।”

शांतिपूर्ण विरोध-प्रदर्शन की वजह—हार्वर्ड की प्रोफेसर एरिका चेनोवेथ के मुताबिक, विरोध के आंदोलनों की सफलता का सीधा संबंध, उनमें महिलाओं की भागीदारी से पाया गया है। यहां तक कि संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट भी ये कहती है कि जब किसी आंदोलन में महिलाएं शामिल होती हैं, तो उसके शांतिपूर्ण बने रहने की संभावनाएं बढ़ जाती हैं।

संयुक्त राष्ट्र का कहना है कि विरोध प्रदर्शनों में महिलाएं कई तरह की भूमिकाएं निभाती हैं। वो आंदोलन की आयोजक होती हैं। प्रदर्शनों में शामिल लोगों का खयाल रखती हैं और उनकी हिफाजत करती हैं। लेकिन, जब बात राजनीतिक प्रक्रिया, सत्ता के परिवर्तन और वार्ता की आती है, तो महिलाओं को हाशिए पर धकेल दिया जाता है। बातचीत की टेबल पर बहुत कम महिलाएं दिखती हैं।

हरियाणा की रहने वाली देविका सिवाच, किसान आंदोलन के पहले ही दिन से टीकरी बॉर्डर पर डटी हुई हैं। अब वो गुरुग्राम में महिलाओं को को एकजुट कर रही हैं। देविका इस सच से इत्तेफाक रखती हैं कि महिलाओं की भागीदारी के कारण ही आंदोलन शांतिपूर्ण बने रहते हैं। देविका कहती हैं कि, “हरियाणा और पंजाब में हमारे आंदोलन की अगुवाई महिलाएं ही कर रही हैं। हम कोई कमजोर औरतें नहीं हैं। हमने हर क्षेत्र में कामयाबी हासिल की है। वो ये कैसे सोच लेते हैं कि हम औरतें कमजोर हैं? अगर हम मर्दों को जन्म दे सकते हैं, तो हम अपनी लड़ाई भी लड़ सकते हैं। मातृशक्ति बेहद महत्वपूर्ण है। आंदोलनों में अमन हम से ही है।”

बराबर की हिस्सेदार—हजारों महिला किसान देश की राजधानी की सीमाओं पर आकर डटी हुई हैं। वो दिल्ली चलो आंदोलन की समर्थक ही नहीं हैं, उसमें बराबर की भागीदार भी हैं। कई महिलाओं ने तो नागरिकता संशोधन कानून के खिलाफ शाहीन बाग के आंदोलन का हवाला देकर कहा कि उन्हें तो विरोध जताने का हौसला शाहीन बाग की औरतों से मिला। शाहीन बाग में औरतों ने दिल्ली की भयंकर ठंड में भी सौ से ज्यादा दिनों तक अपना धरना चलाया था। इसके बाद सरकार ने ये कहते हुए उनका धरना जबरदस्ती खत्म करा दिया था कि महामारी के दौरान वो इतनी

महिलाओं को एक साथ, एक जगह नहीं बैठने दे सकते।

शाहीन बाग के आंदोलन में शामिल रही हिना अहमद ने इस धरने को कामयाब बनाने के लिए काफी मेहनत की थी। उन्होंने बड़ी संख्या में महिलाओं को इससे जोड़ा था। हिना कहती हैं कि इसमें कोई चौंकाने वाली बात नहीं है कि मर्द, औरतों को कमजोर समझते हैं। 47 बरस की हिना कहती हैं कि, “मगर, उन्हें अब ये सोचना छोड़ देना चाहिए कि औरतें कमजोर होती हैं। जब हम धरनों में बैठते हैं, तो बच्चों को उम्मीद की किरण दिखती है। शाहीन बाग में माएं क्यों धरने पर बैठी थीं? क्योंकि उन्हें अपने बच्चों के भविष्य की चिंता थी। उन्होंने हम पर तमाम तरह के इल्जाम लगाए। उन्होंने हमारी औकात बिरयानी तक समेट दी थी। अब वो किसानों को क्या कहेंगे? महिलाओं ने हमेशा ही विरोध प्रदर्शन किए हैं। वो अधिकारों के लिए लड़ाई लड़ती आई हैं।”

बुनियादी अधिकार— भारत का संविधान कहता है कि विरोध का अधिकार, महिलाओं का भी बुनियादी हक है। दिल्ली की रहने वाली मानव अधिकार मामलों की वकील श्रुति पांडेय कहती हैं कि महिलाओं को हमेशा संविधान को अपने दिल में बसाए रखना चाहिए।

नेशनल कार्डसिल ऑफ एप्लाइड इकॉनमिक रिसर्च के मुताबिक, वर्ष 2018 में देश के कृषि क्षेत्र के कुल कामगारों में महिलाओं की हिस्सेदारी 42 फीसद थी। ये आंकड़े ही यह जाहिर करने के लिए काफी हैं कि खेती में महिलाओं की भागीदारी किस तरह लगातार बढ़ रही है। फिर भी आज महिलाएं, खेती के लायक केवल दो फीसद जमीन की ही मालिक हैं।

किसान आंदोलनों में भागीदारी, इन महिलाओं को इस बात का भी मौका मुहैया कराती है कि वो कृषि क्षेत्र में अपने अदृश्य योगदान से पर्दा उठाकर, देश को ये एहसास कराएं कि खेती-बाड़ी में उनकी भूमिका कितनी बड़ी और महत्वपूर्ण है। विरोध-प्रदर्शन के जरिए महिलाएं, किसान कानूनों पर अपनी राय का भी इजहार कर रही हैं, जो उनके हिसाब से महिला विरोधी हैं।

फिर से छिड़ी पुरानी बहस— इस आंदोलन के जरिए वो पुरानी बहस फिर से ज़िंदा हो गई है कि क्या पूंजीवाद, महिलाओं के खिलाफ है? हो सकता है कि ये बात सच हो कि पूंजीवाद ने महिलाओं को काम करने और तरक्की के तमाम मौके दिए। लेकिन, पूंजीवाद ने मर्दवादी खयालात से महिलाओं में पैदा हुई असुरक्षाओं का भी बेजा इस्तेमाल किया। महिलाओं ने राजनीतिक प्रक्रिया में अपनी भागीदारी के अधिकार के लिए सदियों तक संघर्ष किया है।

बीसवीं सदी में अमरीका का महिलाओं को मताधिकार का

आंदोलन हो, या 2020 में भारत के शाहीन बाग में धरना, महिलाओं ने हमेशा ही विरोध प्रदर्शनों की अगुवाई की है। और, पिछले एक दशक के दौरान महिलाओं ने बराबरी का हक हासिल करने के लिए ऐसे बहुत से आंदोलन चलाए हैं।

श्रुति पांडेय कहती हैं कि, इन आंदोलनों में महिलाओं की शिरकत महज़ एक इत्तेफाक नहीं है। वो कहती हैं कि, “सुप्रीम कोर्ट ने महिलाओं को लेकर जिस तरह की टिप्पणियां की हैं, वो संवेदनहीन हैं, बल्कि सच तो ये है कि ये विचार रूढ़िवादी हैं। हालांकि ऐसी बातों से महिलाओं को कम और एक लोकतांत्रिक संस्था के तौर पर सुप्रीम कोर्ट को ही अधिक नुकसान होगा।”

“ऐसी टिप्पणियों से देश की सबसे बड़ी अदालत अप्रासंगिक या बेहद पुरातनपंथी सोच वाली मालूम होती है। किसी भी सूरत में बट्टा सुप्रीम कोर्ट की इज़्जत पर ही लगा है। अगर सुप्रीम कोर्ट की अपनी सोच ऐसी होगी, तो फिर वो किस मुंह से समाज में महिला विरोधी विचारों को रोकने का अधिकार जताएंगे? जब उनकी अपनी विश्वसनीयता कठघरे में होगी, तो वो सामाजिक नियम कायदों को मज़बूत बनाने का काम कैसे कर सकेंगे?”

श्रुति पांडेय का मानना है कि विरोध की एक हकीकत ये है कि वो भविष्य की जुबान बोलता है। आज महिलाओं का इम्तिहान लिया जा रहा है। अब समाज के मूल्यों को नए सिरे से परिभाषित करना ही होगा।

श्रुति कहती हैं कि, “हमें सुप्रीम कोर्ट की बातें बुरी लगनी चाहिए। हमें ये मानना पड़ेगा कि केवल भारत में ही नहीं, बल्कि पूरी दुनिया में हम आज ऐसे मोड़ पर खड़े हैं, जहां पुराने और नए विचारों का टकराव बढ़ रहा है। आज धर्म हो, जाति हो, परिवार हो, या बाज़ार, सभी जगह मर्दवादी सोच हावी है। हालात को ऐसे ही बनाए रखने में पुरुषों का ही फ़ायदा है।”

“लेकिन, महिलाएं इस मंज़र को बदलना चाहती हैं। ये लड़ाई, बेलगाम मर्दवादी सोच को काबू करने की है। इस टकराव से पुरुष और महिलाओं के बीच भेदभाव की जगह, आने वाले समय में बराबरी वाले समाज की ज़मीन तैयार हो रही है।”

“देख-भाल करने का विचार भी वैसा ही है। लोगों को लगता है कि पुरुषों की देख-भाल की ज़िम्मेदारी महिलाओं की है। ये औरतों को ख़ास लैंगिक भूमिका में देखने वाली सोच का ही नतीजा है।”

यही कारण है कि किसान आंदोलन में शामिल महिलाओं को उसी भूमिका में देखा जा रहा है कि वो आंदोलनकारियों का खयाल रख रही हैं।

भारत में हाल के दिनों में हुए कई आंदोलनों में देखा गया है कि महिलाओं ने आंदोलन के लिए खाने और रहने के इंतजाम किए। इसके जरिए, वो अहिंसक तरीके से अपने राजनीतिक अधिकारों के लिए संघर्ष कर रही हैं।

मर्दों का हित—महिलाओं का ये तिरस्कार, और उन्हें खलनायिका बनाकर पेश करना कोई नई बात नहीं है। लेकिन, महिला आंदोलनकारियों की ऐसी आलोचना जरूर नई है, और इसकी समीक्षा करना जरूरी है। महिलाओं को विलेन बनाने वाली ऐसी टिप्पणियां इस बात का संकेत हैं कि, महिलाओं को मौजूदा पितृसत्तात्मक व्यवस्था के लिए खतरे के रूप में देखा जा रहा है।

श्रुति पांडेय कहती हैं कि, “देश की सरकार मर्दवादी है। न्यायपालिका पर मर्दों का दबदबा है, बाजार पुरुषवादी है। बल्कि कुल मिलाकर कहें तो इंसानी सभ्यता पर ही मर्दवाद हावी रहा है। इसके खिलाफ बगावत तो महिलाएं ही करेंगी। ये सारी बातें एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं। महिलाओं का विरोध वही लोग करते हैं, जिनके हित मर्दों के दबदबे वाली मौजूदा व्यवस्था से जुड़े हैं।”

जहां तक संविधान की बात है, तो वो महिला और पुरुष में भेद नहीं करता है। महिलाओं को भी बराबरी के कानूनी हक हासिल हैं। संविधान में कोई बदलाव नहीं हुआ है, और संविधान के मुताबिक औरतें कोई दोगम दर्जे की नागरिक नहीं हैं।

किसान आंदोलन का समर्थन करने वाली अभिनेत्री गुल पनाग कहती हैं कि महिलाओं के विरोध करने के अधिकार को कम करके आंकना, नाइंसाफी है। इससे ऐसा लगता है कि महिलाओं को उनकी इच्छा के खिलाफ विरोध-प्रदर्शनों में लाया गया, और अब बंधक बनाकर रखा जा रहा है।

गुल पनाग कहती हैं कि, “हर किसान परिवार में महिलाएं, मर्दों के कंधे से कंधा मिलाकर काम करती हैं और खेती-किसानी में बराबर की साझीदार हैं। बल्कि, सच तो ये है कि किसी और पेशे की तुलना में खेती में तो औरतें, मर्दों के साथ बराबर की शरीक हैं।”

महिलाओं को दबाकर रखने का सिलसिला बहुत पुराना है। ये सोच हमारी जबान, सामाजिक रिश्तों के ताने-बाने, घिसे-पिटे नज़रियों, धर्म और संस्कृति के जरिए जाहिर होती है। पूंजीवाद ने समाज पर पुरुषों के दबदबे को कई तरीकों से बढ़ावा दिया है।

उपभोक्तावादी संस्कृति ही खूबसूरती के पैमाने तय करती है, और वो ये भी बताती है कि महिलाएं क्या और कैसा बनने के ख़्वाब देखें। पूंजीवाद, असुरक्षा के बोध पर ही फलता-फूलता है। मर्दवाद, इसी बिनाह पर अपना शिकंजा और कसता जाता है।

पूंजीवादी साजिश—दिल्ली चलो आंदोलन में शामिल

महिलाएं नए कृषि कानूनों को पूंजीवाद की एक साजिश के तौर पर देखती हैं।

पूंजीवाद ही जलवायु परिवर्तन के संकट का भी एक कारण है। मर्दवादी समाज, आज भी महिलाओं को कमजोर बताता है। वो बुजुर्गों और बच्चों के साथ महिलाओं के बारे में भी यही कहता है कि वो ठंड और कोरोना वायरस की शिकार ज्यादा जल्दी हो जाएंगी। महिलाएं ऐसी बातों को सिरे से खारिज करती हैं।

भारत के मुख्य न्यायाधीश की ये टिप्पणियां एक रूढ़िवादी सोच उजागर करती हैं। वो महिला विरोधियों को एक और हथियार उपलब्ध कराती हैं, जिससे वो औरतों को निशाना बना सकें। मगर, इन टिप्पणियों से ये भी जाहिर होता है कि देश के मुख्य न्यायाधीश को ये जानकारी ही नहीं है कि भारत में महिलाओं ने ‘चिपको आंदोलन’ सरीखे बहुत से विरोध प्रदर्शनों का नेतृत्व किया है।

टीकरी बॉर्डर पर एक ट्रैक्टर की ट्रॉली में बैठी जिन नौ महिलाओं से मैं दिसंबर महीने में मिली थी, उनका कहना था कि वो इस आंदोलन में इसलिए शामिल हैं, क्योंकि ऐसा करना उनका हक है। वो अपनी मर्जी से यहां आई हैं। इनमें सबसे बुजुर्ग महिला की उम्र 72 बरस थी, तो सबसे कम उम्र की आंदोलनकारी बीस बरस की एक लड़की थी। उनके साथ एक छोटा बच्चा भी था। वो पंजाब के बठिंडा जिले के चक राम सिंह वाला से आए थे। उस ट्रॉली में सत्तर साल से ज्यादा उम्र की चार महिलाएं थीं। उनमें से एक थीं जसबीर कौर। उन्होंने मुझसे कहा कि, “हमने अपनी मर्जी से यहां आकर विरोध प्रदर्शनों में शामिल होने का फ़ैसला किया। हम भी तो किसान हैं। वो हमको कुछ समझते ही नहीं हैं।”

जसबीर कौर, भारतीय किसान यूनियन (एकता उग्रहण) से ताह्लुक रखती हैं। उन्होंने कहा था कि जब तक सरकार ये कानून वापस नहीं लेती, वो घर नहीं लौटेंगी। ठंड और ऊल-जलूल बयानों के बाद भी, जसबीर कौर अभी धरने पर डटी हुई हैं। वो कहती हैं कि, “हमें इस विरोध प्रदर्शन से अलग नहीं रखा जा सकता। हम भी बराबर के नागरिक हैं।”

इस आंदोलन में महिलाओं की भागीदारी का असल मकसद यही है। बराबरी का अधिकार हासिल करना। ये लड़ाई तो सदियों से चली आ रही है। मताधिकार के लिए संघर्ष, इसी जंग का हिस्सा था।

बिल्कीस बानो कहती हैं कि, “हम सबके लिए लड़ाई लड़ रहे हैं। महिलाएं यही तो करती आई हैं। वो सभी को बराबरी का हक दिलाने के लिए संघर्ष करती हैं।”

साभार : bbc.com/hindi



मोर्चे में महिलाएं

■ नीलम सिधानी फतेहाबाद, हरियाणा से

किसान आंदोलन ने अपने तीन महीने पूरे कर लिए हैं और इन तीन महीनों में बहुत सी तब्दीलियां आई हैं इस आंदोलन में। लेकिन ये आंदोलन अब भी पूरे जोश और जज्बे के साथ अगले पड़ाव के लिए तैयार है। ये आंदोलन एक जन आंदोलन बन चुका है इस आंदोलन से पहले बहुत सारे आंदोलन लड़े और जीते गए लेकिन उनमें महिलाओं की भागीदारी इस तरीके से देखने को नहीं मिली।

महिलाएं इस आंदोलन का मुख्य हिस्सा बन गई हैं। पहले किसान आंदोलन सिर्फ पंजाब में लड़ा गया बाकी राज्यों में जैसे हरियाणा में ये सिर्फ सांकेतिक रूप में था जिसमें महिलाएं ना के बराबर थी लेकिन पंजाब में महिलाएं पहले दिन से ही इस आंदोलन में सक्रिय थीं। इस आंदोलन में हर उम्र की महिलाएं और लड़कियां पूरे जोश और जज्बे के साथ शामिल हैं। लेकिन जब ये आंदोलन दिल्ली में प्रवेश कर गया तो सिर्फ पंजाब ही नहीं हरियाणा व यूपी, राजस्थान कि औरतों का जैसे सैलाब आ गया हो। अगर पंजाब के संदर्भ में बात करे तो जब किसान 26 नवंबर को दिल्ली में आए तो उनमें महिलाओं की संख्या भी काफी थी और पहली रात जब उन्होंने दिल्ली की सड़कों पर एक चुन्नी के साथ गुजारी तो इस से साफ पता चलता है कि औरतें इस आंदोलन में सिर्फ भावनात्मक रूप से नहीं बल्कि पूरी सोच समझ और हौंसले के साथ शामिल हैं। 80-90 साल की जब माताओं से बात की तो उन्होंने खेती बिलों की एक एक कमी सामने रखी। उनका कहना

था कि 'हम सिर्फ फसले ही नहीं नस्लें भी बचाने आए हैं' और जिस प्रकार से पंजाब की महिलाओं का नेतृत्व उभर कर सामने आया वो अपने आप में ही बहुत बड़ी जीत है जैसे हरिंदर बिंदु हो, जसवीर कौर नत्त हो, सोनिया मान हो। और एक और बड़ी बात इस आंदोलन में शामिल लड़कियां न्यूज पेपर और लाइब्रेरी भी चला रही हैं जैसे भगत सिंह लाइब्रेरी टिकरी बॉर्डर पर।

और हरियाणा के संदर्भ में बात करे तो हरियाणा में खाप पंचायतों का इतिहास रहा है जहां औरतों को घर तक ही सीमित रखा जाता है लड़कियों का लडकों से मिलना तो दूर बात करने का भी अधिकार नहीं है, तो जब में 3 दिसंबर को सिंगू बॉर्डर पर गई तो यही सोचती रही कि रहूंगी कहां, किसके साथ लेकिन जब में वहां गई तो मैं हरियाणा किसान पंचायत के टेंट में रही जिसको कुछ खाप पंचायत के लोग के स्टूडेंट चला रहे थे। तो जब वहां जाकर देखा तो लड़के लड़कियां साथ बैठे बात कर रहे हैं और सब उस टेंट में साथ ही सोए तो देखने में ही कमाल लगता था कि जिस खाप पंचायतों का इतिहास कैसा रहा वहां लड़के लड़कियां साथ में आंदोलन में अपनी भागीदारी निभा रहे हैं। और पहले जब किसान का नाम लिया जाता था तो दिमाग में मूछों वाले और पगड़ी वाले पुरुष की छवि बनती थी लेकिन इस आंदोलन ने ये छवि बदली है कि औरत भी किसान है। अब छवि सिर पर

शेष पृष्ठ 12 पर



लेडी अबला बोस जिनके प्रयासों से मिला महिलाओं को वोट का अधिकार

■ कुमार देवांशु देव

//

लेडी अबला बोस ने
देश की महिलाओं को
सामाजिक कुरीतियों से
मुक्त कर, एक सम्मानित जीवन
देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

भारत में 19वीं सदी के मध्य में राष्ट्रवाद के उदय ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन की रूप-रेखा तैयार करने के साथ ही, कई सामाजिक-आर्थिक व्यवस्थाओं के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण को भी अपनाने में मदद की।

उस वक्त भारतीय समाज में सती प्रथा, विधवाओं का बहिष्कार, बाल विवाह जैसी कई कुप्रथाएं थी और इसे रोकने में बंगाली कवि, शिक्षाविद, और सामाजिक कार्यकर्ता कामिनी राय ने उल्लेखनीय भूमिका निभाई। लेकिन, क्या आपको पता है कि यह वास्तव में उनकी सहपाठी अबला बोस थीं, जिन्होंने कामिनी को महिलाओं की स्थिति सुधारने की दिशा में प्रयास करने के लिए प्रेरित किया।

कौन थीं अबला बोस—अबला का जन्म 8 अगस्त 1865 को बरिसल में हुआ था। उनके पिता दुर्गामोहन दास ब्रह्म समाज के एक बड़े नेता थे। जबकि उनकी माँ, ब्रह्ममयी, विधवाओं के उत्थान की दिशा में काम करती थीं। लेकिन, अबला जब सिर्फ 10 वर्ष की थीं, तो उनकी माँ चल बसीं।

अबला पर अपनी माँ का गहरा असर था और वह शुरू से एक ऐसे माहौल में पली-बढ़ीं

जहाँ महिलाओं की शिक्षा को विशेष प्राथमिकता दी जाती थी। अपनी स्कूली शिक्षा पूरी करने के बाद, अबला ने बेथ्यून कॉलेज में दाखिला ले लिया। इसके बाद वह मेडिसीन की पढ़ाई के लिए मद्रास विश्वविद्यालय चली गईं। यहाँ वह अपनी अंतिम परीक्षा में शामिल हुईं, लेकिन सेहत बिगड़ने के कारण नतीजे घोषित होने के पहले उन्हें घर लौटना पड़ा। इस कारण परीक्षा पास करने के बाद भी उन्हें इसकी जानकारी नहीं हुई।

इसके बाद, 23 साल की उम्र में, उनकी शादी जगदीश चंद्र बोस से हुई, जिन्हें रेडियो साइंस के पितामह के रूप में जाना जाता है। साल 1916 में उन्हें नाइटहुड की उपाधि मिली और इसके बाद उन्हें लेडी बोस के नाम से जाना जाने लगा। उन्हें अपने पति के सफलता का प्रेरणास्त्रोत माना गया। लेकिन, भारतीय समाज में उनकी भूमिका इससे कहीं अधिक है।

शैक्षिक सुधार—अपने शोध कार्यों के सिलसिले में सर जे सी बोस को कई दूसरे देशों की यात्राएं करनी पड़ती थीं। कई यात्राओं में अबला भी उनके साथ होती थीं। इस दौरान उन्होंने देखा शुरू किया कि विभिन्न समाजों में महिलाएं कैसे रहती हैं।

इसके बाद, यूरोप की एक विशेष यात्रा से लौटने के बाद, अबला ने देश में महिलाओं की स्थिति में सुधार का जिम्मा अपने कंधे पर उठाया। इसी कड़ी में वह 1910 में, ब्रह्मो बालिका शिक्षालय की सचिव बनीं और अगले 26 वर्षों तक उन्होंने इस जिम्मेदारी को निभाया।

इतना ही नहीं, उन्होंने भारत में मोंटेसरी स्कूल सिस्टम को भी विकसित किया और ब्रह्म गर्ल्स स्कूल की शुरुआत की। ठीक इसी साल उन्होंने जगदीश चंद्र बोस और देशबंधु चितरंजन दास के सहयोग से नारी शिक्षा समिति की स्थापना की। इसमें उन्हें गुरुदेव टैगौर, भगिनी निवेदिता और विद्यासागर से भी पर्याप्त सहयोग मिला। इन प्रयासों के तहत उनका उद्देश्य शिक्षा के माध्यम से समाज में महिलाओं की दशा को सुधारना था।

अबला ने अपने पूरे जीवन में कुल 88 प्राथमिक विद्यालय और 14 वयस्क शिक्षा केंद्र स्थापित किए। इसमें मुरलीधर गर्ल्स कॉलेज और बेल्टोला गर्ल्स स्कूल भी शामिल हैं, जिसे उन्होंने कृष्णप्रसाद बसक के साथ मिलकर शुरू किया था।

अबला और जेसी बोस स्वामी विवेकानंद और सिस्टर निवेदिता से काफी करीब थे। कहा जाता है कि डॉ. बोस जब ब्रिटिश सरकार की उदासीनता के कारण अपने शोध कार्यों को जारी रख पाने के लिए संघर्ष कर रहे थे, तो सिस्टर निवेदिता ने उनकी आर्थिक मदद की। इतना ही नहीं, उनकी मदद से अबला शिक्षकों को किंडरगार्टन स्तर तक प्रशिक्षित करने में समर्थ थीं और दोनों ने मिलकर लड़कियों को आत्मरक्षा के लिए प्रशिक्षित किया। जिससे वे बिना किसी डर के अपने घरों से बाहर निकल सकती थीं।

इसके बाद, 1925 में, उन्होंने विद्यासागर बानी भवन प्राथमिक शिक्षक प्रशिक्षण संस्थान की। जिसके तहत विधवाओं को टीचर ट्रेनिंग देने के साथ-साथ उनकी पढ़ाई-लिखाई पर भी ध्यान दिया जाता था। फिर, इन महिलाओं को नारी शिक्षा समिति के तहत स्कूल में नौकरी भी दी जाती थी। यह बंगाल का पहला ऐसा संस्थान था, जहाँ प्राथमिक और पूर्व-प्राथमिक शिक्षकों को प्रशिक्षित किया जाता था।

इतना ही नहीं, लेडी बोस ने कोलकाता और झारग्राम में महिला शिल्प भवन की भी स्थापना की। इसके तहत कमजोर और विधवा महिलाओं को उद्यमशीलता और वित्तीय स्वतंत्रता के प्रति प्रोत्साहित किया जाता था, ताकि उन्हें सामाजिक बंधनों से मुक्त किया जा सके।

इन महिलाओं को कई कला और शिल्प संबंधित विषयों में प्रशिक्षित कर, उन्हें स्वरोजगार से जोड़ा जाने लगा। अबला ने

कमरहटी में भी एक प्रशिक्षण संस्थान स्थापित किया। इसके तहत गरीब महिलाओं को बुनाई, चमड़े की कारीगरी, मिट्टी से बर्तन बनाने और सिलाई का प्रशिक्षण दिया जाता था। उनके इन्हीं प्रयासों को देखते हुए, उन्हें बंगाल महिला शिक्षा लीग का पहला अध्यक्ष चुना गया था।

महिलाओं को मताधिकार दिलाने में भूमिका—उन्होंने देश की महिलाओं को मताधिकार दिलाने में भी उल्लेखनीय भूमिका निभाई। वह सरोजिनी नायडू, मार्गरेट कजिन्स, डोरोथी जिनराजदासा, रमाबाई रानडे के साथ उस प्रतिनिधिमंडल का हिस्सा थीं, जो 1917 में एडविन मोंटेग्यू से मिला था। उस वक्त मोंटेग्यू, मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों पर बातचीत के सिलसिले में दौरे पर आए थे। इसके फलस्वरूप, महिलाओं को पुरुषों के समान राजनीतिक और नागरिक अधिकार प्राप्त हुए। बता दें कि 1921 में, बॉम्बे और मद्रास प्रांत महिलाओं को मताधिकार देने वाले पहले प्रांत बन गए और बंगाल ने 1925 में इसका पालन किया।

देश को आजादी मिलने के बाद, अबला द्वारा महिलाओं को शिक्षित, आत्मनिर्भर और आर्थिक स्वतंत्रता के प्रयासों को सरकार ने भी जरूरी माना और उनके विचार, सरकारी नीतियों का अभिन्न अंग बन गए।

अबला का विचार था कि महिलाओं के लिए शिक्षा एक बेहतर पत्नी या बहू बनने से कहीं अधिक मूल्यवान है। अंग्रेजी पत्रिका मॉडर्न रिव्यू में वह अपने विचारों को प्रकट करते हुए लिखती हैं, 'ए वूमन लाइक ए मेन इज फर्स्ट ऑफ ऑल ए माइंड, एंड ऑनली इन द सेकंड प्लेस फिजिकल एंड ए बॉडी।'।

अपने अंतिम दिनों में, लेडी बोस ने सिस्टर निवेदिता एडल्ट एजुकेशन फंड की शुरुआत के लिए 10 लाख रुपये का दान दिया। जिससे ग्रामीण महिलाओं के लिए शिक्षा और स्वास्थ्य के देखभाल की व्यवस्था की गई।

उन्होंने अपने अंतिम दिनों को दार्जिलिंग में गुजारा। जहाँ उन्होंने किराए पर घर लिया था। उनके पति का निधन 1937 में हुआ, जबकि 1951 में उन्होंने अपनी अंतिम साँसे लीं। उनके दार्जिलिंग के घर को अब एक सांस्कृतिक और शैक्षिक केंद्र में परिवर्तित करने की योजना बनाई गई है।

लेडी अबला को अपनी पूरी जिंदगी कमजोर और निःसहाय महिलाओं के कल्याण की दिशा में प्रयास करने के लिए अग्रणी माना जाता रहेगा और भारतीय इतिहास में उन्हें सदैव याद किया जाता रहेगा।

मूल लेख : दिव्या



सुरैया तैयबजी : राष्ट्रीय ध्वज के डिजाइन में इस महिला का था अहम योगदान

■ निशा डागर

//

बहुत सी महान महिलाओं की तरह इतिहास में सुरैया तैयबजी को भी कोई खास स्थान नहीं मिला। जबकि, कहीं न कहीं सुरैया एक कारण है कि आज केसरिया, सफेद और हरा रंग हमें देशभक्ति की भावना से भर देता है

जब भी हम अपने देश के तिरंगे को देखते हैं तो हमारा दिल शान, गर्व और देशभक्ति से भर जाता है। तिरंगा न सिर्फ हमारे देश की एकता और अखंडता का प्रतीक है, बल्कि यह भारत की पहचान का प्रतीक है।

ज्यादातर लोग जानते हैं, कि भारत का राष्ट्रीय ध्वज 'पिंगली वेंकैया' ने डिजाइन किया था। पर बहुत कम लोगों को यह पता है कि आज जिस डिजाइन को भारत के तिरंगे के लिए इस्तेमाल किया जाता है, वह एक महिला स्वतंत्रता सेनानी ने बनाया था।

एक अंग्रेज़ इतिहासकार ट्रेवर रोयेल ने अपनी किताब 'द लास्ट डेज़ ऑफ़ राज' में लिखा है कि भारत का अंतिम राष्ट्रीय ध्वज सुरैया तैयबजी ने बनाया था।

साल 1919 में हैदराबाद (आंध्र प्रदेश, अब तेलंगाना की राजधानी) में जन्मी सुरैया एक प्रतिष्ठित कलाकार थीं। उन्हें अक्सर समाज के प्रति अपने प्रगतिशील विचारों के लिए जाना जाता है। उनकी शादी बदरुद्दीन तैयबजी से हुई, जो एक भारतीय सिविल अधिकारी थे और बाद में, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के कुलपति भी बने।

सुरैया संविधान सभा के तहत विभिन्न समितियों की सदस्य थीं और उनमें से कई में प्रमुख भूमिकाएँ निभा चुकी हैं। वे काफी कलात्मक और बहु-प्रतिभाशाली थीं।

सुरैया से पहले भी बहुत से लोगों ने समय-समय पर ध्वज के डिजाइन दिए थे। इन लोगों में भगिनी निवेदिता, मैडम कामा, एनी बेसेंट, लोकमान्य तिलक और पिंगली वेंकैया जैसे नाम शामिल हैं।

साल 1921 में पहली बार महात्मा गाँधी ने कांग्रेस के सम्मेलन में अपना एक ध्वज बनाने की बात उठाई थी। उसके बाद ही फैसला हुआ कि भारत का अपना एक झंडा, एक ध्वज होगा, जो कि भारत का एक राष्ट्र के तौर पर प्रतिनिधित्व करेगा। उन्होंने कहा, 'यह हम सब भारतीयों (हिन्दू, मुस्लिम, इसाई, यहूदी, पारसी, और वो सभी लोग जिनके लिए भारत उनका घर है) के लिए बहुत जरूरी है कि हमारा अपना एक ध्वज हो, जिसके लिए हम जिए और मर सकें।'

गाँधी जी के इस विचार से प्रभावित होकर बहुत से सेनानी और क्रांतिकारियों ने

ध्वज के लिए डिजाइन विकल्प के तौर पर दिए। इनमें से गाँधी जी ने एक झंडे को स्वीकृति दी। इस झंडे को डिजाइन किया था आंध्र प्रदेश के पिंगली वेंकैया ने।

इस झंडे में दो रंग—लाल और हरा का इस्तेमाल हुआ था। हालांकि, गाँधी जी के सुझाव पर इसमें सफ़ेद रंग भी जोड़ा गया और साथ ही, चरखे का चिह्न भी इस्तेमाल हुआ।

हालांकि, बाद के वर्षों में इसमें और भी बदलाव हुए। और आखिर में, जो तीन रंग का ध्वज जवाहर लाल नेहरू की कार पर लगाया गया, वह सुरैया ने बनाया था। एक रिपोर्ट के मुताबिक, बदरुद्दीन और सुरैया ने ही ध्वज में चरखे की जगह अशोक चक्र के चिह्न को इस्तेमाल करने का सुझाव दिया था। सुरैया ने ही इस ध्वज का ग्राफिक खाका तैयार किया।

यहाँ तक कि पहला तिरंगा सुरैया ने खुद अपनी देख-रेख में दर्जी से सिलवाया था और इस तिरंगे को नेहरू जी को भेंट किया गया। पहली बार प्रधानमंत्री की कार पर जो तिरंगा लहरा, वह सुरैया ने दिया था।

इस ध्वज को 22 जुलाई 1947 को मंजूरी मिली। हालांकि, उस समय संविधान सभा में राष्ट्रीय ध्वज को लेकर जो प्रस्ताव पारित हुआ था, उसमें ना तो पिंगली वेंकैया के नाम का उल्लेख था और ना ही सुरैया तैयबजी का। सुरैया और उनके पति ने भी कभी यह दावा नहीं किया कि राष्ट्रीय ध्वज उन्होंने बनाया है। वे इस बात का पूरा सम्मान करते थे कि तिरंगे की मूल नींव वेंकैया ने रखी थी। इसलिए आज भी ध्वज के निर्माणकर्ता के नाम पर संशय रहता है। लेकिन इस बात को कोई नहीं नकार सकता कि ये सुरैया का ध्वज को अंतिम रूप देने में कोई योगदान नहीं था।

पर भारत की और भी बहुत-सी महान महिलाओं की तरह इतिहास में सुरैया तैयबजी को भी कोई खास स्थान नहीं मिला। जबकि, कहीं न कहीं सुरैया एक कारण है कि आज केसरिया, सफ़ेद और हरा रंग हमें देशभक्ति की भावना से भर देता है। इसलिए यह बहुत जरूरी है कि हम भारत की इस बेटा को सम्मान और सराहना से नवाजें।

किसान आंदोलन में महिलाएं

पृष्ठ 8 का शेष

मंढासा मारे हुए औरत दिखती है और जब महिला किसान दिवस पूरे देश में मनाया गया तो पूरे देश में गांवों, कस्बों, शहरों में महिलाओं की भागीदारी कमाल की थी।

बेशक इस आंदोलन में महिलाएं पुरुषों की संख्या में कम है लेकिन इतनी भागीदारी ने ही सरकार की नींद उड़ा रखी है और सुप्रीम कोर्ट के न्यायमूर्ति ने भी कहा कि औरतों और बच्चों, बुजुर्गों को घर भेज दिया जाए। इससे साफ पता चलता है कि महिलाएं इस आंदोलन के लिए कितनी महत्वपूर्ण हैं। हमारे समाज में जहां एक तरफ औरत को देवी और दूसरी तरफ पैर की जूती समझा जाता है वहीं इस आंदोलन ने औरत को एक इंसान का दर्जा दिया। हम देखते हैं कि शाम के बाद औरतों को घर से बाहर निकलने पर चरित्र प्रमाण दे दिया जाता है जहां घड़ी की सुई औरत के चरित्र को निर्धारित करती है वहीं दूसरी तरफ औरतें इस आंदोलन में सारी सारी रात पहरा देती हैं कोई भी असामाजिक तत्व आंदोलन को खराब करने की कोशिश करे तो सबसे पहले डट कर सामने खड़ी हो जाती हैं। बेशक औरतों को दिल्ली की

सड़कों पर बहुत सारी समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है जैसे बाँथरूम की समस्या, नहाने की और मासिक धर्म जैसी समस्याएं लेकिन फिर भी वो इन सब मुश्किलों के बाद पूरे जोश से आंदोलन को जीतने के जज्बे के साथ बैठी हैं। इस आंदोलन में औरतें सिर्फ प्रत्यक्ष ही नहीं अप्रत्यक्ष रूप में भी शामिल हैं जैसे घर के सभी पुरुषों को वो आंदोलन में भेज कर खुद घर और खेत का सारा काम करती हैं। जैसे पिछले दिनों हरियाणा कि 12 साल की लड़की खेत का काम करने के कारण चर्चा में आई थी। महिलाएं बहुत ही अलग तरीकों से विरोध दर्ज करवा रही हैं जैसे गीतों के जरिए, रात को जागो निकाल कर, इन विरोध करने के तरीकों से औरत की रचनात्मक दृष्टि का भी पता चलता है। आंदोलन को व्यवस्थित बनाने में महिलाओं कि भागीदारी बहुत महत्वपूर्ण है। आंदोलन अभी और कितना लंबा चलेगा ये नहीं पता लेकिन महिलाओं का यूँ उभर कर आना भारतीय समाज के लिए अपने आप में क्रांति है हर एक महिला चाहे वो दादी गुरमेल कौर हो या दो बच्चों के साथ घर को ताला लगाकर आई हुई औरत हो सबने इस आंदोलन को एक नई दिशा दी है।



डॉ. पूर्णिमा सिन्हा वह महिला वैज्ञानिक, जिन्होंने महिलाओं को दिलाई फिजिक्स रिसर्च में जगह

■ निशा डागर

दूसरे विश्व युद्ध के बाद, कोलकाता के एक मशहूर मोहल्ले में सेना के बचे हुए हथियार और उपकरण कबाड़े के भाव बेचे जा रहे थे और एक लड़की, इनमें से चुन-चुनकर कुछ पार्ट्स ले रही थी। क्योंकि उसे फिजिक्स विषय में अपनी डॉक्टरल रिसर्च के लिए एक एक्स-रे उपकरण बनाना था।

जी हाँ, जिस जमाने में कुछ चंद्र प्रोफेशनल क्षेत्रों को ही महिलाओं से जोड़ा जाता था, उस जमाने में इस लड़की ने न सिर्फ फिजिक्स में पीएचडी की, बल्कि आगे चलकर बंगाली भाषा में विज्ञान से संबंधित किताबें भी लिखीं। यह लड़की थी, डॉ. पूर्णिमा सिन्हा, जिसने महान वैज्ञानिक डॉ. सत्येंद्र नाथ बोस के मार्गदर्शन में अपनी पीएचडी पूरी की।

12 अक्टूबर 1927 को कोलकाता के वकील नरेश चंद्र सेनगुप्ता के यहाँ जन्मी, पूर्णिमा सेनगुप्ता, उनकी सबसे छोटी बेटी थी। स्त्री-पुरुष के समान अधिकारों के पक्षधर रहे नरेश चंद्र ने अपनी तीनों बेटियों को हमेशा अच्छी शिक्षा प्राप्त करने और अपने पैरों पर खड़े होने के लिए प्रोत्साहित किया।

साल 1945 में, डॉ. बोस ने कोलकाता यूनिवर्सिटी के खैरा लैब में बतौर प्रोफेसर ज्वाइन

किया। पूर्णिमा ने भी कोलकाता यूनिवर्सिटी से फिजिक्स में एमएससी की और अपनी पूरी कक्षा में शायद वे अकेली लड़की थीं। प्रोफेसर बोस ने उनकी फिजिक्स में गहरी रूचि देखी और इसलिए, साल 1951 में उन्होंने पूर्णिमा को अपने रिसर्चर्स की टीम में शामिल कर लिया।

‘लीलावतीज डॉटर्स : द वीमेन साइंटिस्ट ऑफ़ इंडिया’ किताब में दिए अपने साक्षात्कार में पूर्णिमा ने बताया, ‘उस समय, हम लगभग 10 लोग खैरा लैब में एक्सपेरिमेंटल रिसर्च पर काम कर रहे थे। हममें से हर किसी को ज़रूरत के हिसाब से अपने उपकरण खुद ही बनाने होते थे। दूसरे विश्व युद्ध के स्क्रेप से बने एक्स रे उपकरण को हमने डॉ. बिधान रॉय के घर के पीछे वाली गली में रखा था। बाकी हिस्सा लैब में रखा गया था।’

साल 1955 में, उन्होंने ‘एक्स-रे एंड डिफरेंशियल थर्मल एनालिटिक्स ऑफ़ इंडियन क्लेज’ टाइटल के साथ अपनी थीसिस सबमिट की और फिर एक साल बाद उन्हें पीएचडी की डिग्री मिली।

अपना खुद का एक्स-रे उपकरण बनाने के

शेष पृष्ठ 16 पर



दुर्गाबाई देशमुख संविधान के निर्माण में उठाई थी स्त्रियों के लिए सम्पत्ति के अधिकार की आवाज़

■ निशा डागर

दुर्गाबाई देशमुख, एक महान भारतीय स्वतंत्रता सेनानी, जिन्होंने न सिर्फ देश की सेवा की, बल्कि कानून की पढ़ाई कर महिलाओं के अधिकारों के लिए आवाज़ भी उठाई।

मात्र 8 साल की उम्र में उनकी शादी एक जमींदार से कर दी गयी थी। लेकिन यह दुर्गाबाई का साहस ही था कि गृहस्थ जीवन शुरू करने से पहले ही, 15 साल की उम्र में उन्होंने इस शादी को खत्म कर दिया। उनके इस फैसले में उनके पिता और भाई ने उनका साथ दिया। खुद को बाल विवाह से आजाद कर, दुर्गाबाई ने अपने आने वाले जीवन की नींव रख दी थी। इसके बाद उन्होंने न सिर्फ स्वतंत्रता संग्राम में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई; बल्कि भारतीय संविधान के निर्माण में भी अपना योगदान दिया और ताउम्र महिलाओं के हितों की रक्षा के लिए तत्पर रहीं।

राजमुंदरी के तटीय आंध्र प्रदेश शहर (तत्कालीन) में 15 जुलाई, 1909 को सामाजिक कार्यकर्ता बीवीएन रामा राव और उनकी पत्नी कृष्णावनम्मा के यहाँ जन्मी, दुर्गाबाई की परिवारिक स्थिति कमजोर होने के बावजूद, उन पर अपने पिता की निःस्वार्थ सामाजिक सेवा की भावना का गहरा

प्रभाव पड़ा। अपनी आत्मकथा, 'चिंतामन और मैं,' में उन्होंने अपने जीवन में हुई एक घटना का मार्मिक चित्रण करते हुए लिखा, 'उन दिनों शहर में प्लेग और हैजा जैसे बीमारियाँ फैली हुई थीं। इस बीमारी से जूझ रहे लोगों की मदद करने से वे कभी भी पीछे नहीं हटे। उन्होंने सैकड़ों बीमार लोगों की मदद की। बहुत बार तो वे मुझे भी अपने साथ ले जाते थे। वहाँ कुछ इन बीमारियों के चलते मरने वाले लोगों का शव उठाकर लेकर जाते थे, क्योंकि एम्बुलेंस का तो कोई पता ही नहीं था। उस समय, काकीनाड़ा में जैसे सत्राटा फैल गया था। पर फिर भी पिता जी, माँ के साथ मुझे और मेरे छोटे भाई, नारायण राव को चर्च, मस्जिद, घाट आदि पर ले जाते और दिखाते कि कैसे मरने वाले लोगों का अंतिम संस्कार किया जा रहा है, ताकि हम मौत जैसी भयानक सच्चाई से डरे नहीं।'

आगे वे लिखती हैं कि उनके पिता की 'एकमात्र गलती' उनकी कम उम्र में शादी कर देना थी। महात्मा गाँधी से प्रभावित दुर्गाबाई ने जल्द ही खुद को पूरी तरह से स्वतंत्रता संग्राम में झोंक दिया। साल 1921 में जब गाँधी जी के एक आयोजन के लिए आंध्र प्रदेश आने की खबर उन्होंने सुनी, तो 12 साल की दुर्गाबाई ने ठान

लिया कि वे यहाँ की स्थानीय देवदासी और मुस्लिम समुदाय की महिलाओं की भेंट गाँधी जी से करवाएंगी।

उस वक्त, जो लोग इस आयोजन को संभाल रहे थे, उन्होंने दुर्गाबाई और उनकी देवदासी-मुस्लिम महिलाओं के समूह से 5,000 रुपये मांगें। उन्हें लगा नहीं था कि दुर्गा बाई इतने पैसे इकट्ठे कर पाएंगी। पर दुर्गाबाई ने गाँधी जी को उनकी आजादी की लड़ाई के लिए दान के लिए कुछ पैसे जोड़ रखे थे। अपने लक्ष्य पर अडिग रहते हुए, दुर्गाबाई ने अपनी देवदासी साथियों के साथ मिलकर पांच हजार रुपये इकट्ठा किये और साथ ही, गिरफ्तार होने की आशंका के बावजूद उन्होंने आयोजन के लिए जगह भी किराए पर ली।

गाँधी जी के दौरे के बाद, उनके पूरे परिवार ने हर तरह की विदेशी वस्तुओं का त्याग कर स्वदेशी को अपनाया। वे सभी हाथ से बनीं खादी पर निर्भर करते थे। साथ ही, दुर्गाबाई ने स्कूल छोड़ने का फैसला किया क्योंकि यहाँ बच्चों पर अंग्रेजी भाषा थोपी जा रही थी। यह सब तब हुआ, जब असहयोग आंदोलन अपने चरम पर था।

इसके लगभग 9 साल बाद, स्वतंत्रता सेनानी टी. प्रकाशम के गिरफ्तार होने के बाद, उन्होंने मद्रास में नमक सत्याग्रह की बागडोर संभाल ली। लेकिन, फिर उन्हें भी गिरफ्तार कर लिया गया और उन्होंने तीन साल (1930-33) कारावास में बिताये। उन्हें एक साल के लिए एकांत कारावास में भी रखा गया।

जेल में बिताये इन वर्षों के दौरान महिलाओं के प्रति हो रहे अपराधों और अत्याचारों के बारे में उन्हें पता चला। उन्हें ज्ञात हुआ कि किस तरह बहुत सी अशिक्षित महिलाओं को बिना किसी अपराध के भी सजा काटनी पड़ रही है, क्योंकि कोई भी उनके हित के लिए आवाज उठाने वाला नहीं है। इस अन्याय के प्रति उनके मन में जो रोष उत्पन्न हुआ, उससे ही उन्हें भविष्य में एक वकील बनने की और शिक्षा के द्वारा देश की महिलाओं की स्थिति सुधारने की प्रेरणा मिली।

उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा, 'यह वह वक्त था जब मैंने कानून की पढ़ाई करने की ठानी, ताकि मैं इन महिलाओं को मुफ्त में कानूनी मदद दे पाऊँ और साथ ही, उन्हें खुद के लिए लड़ने में मदद करूँ।'

अपनी सजा काटने के बाद, उन्होंने अपना ध्यान राजनीति से हटाकर अपनी पढ़ाई पर लगाया। उन्होंने कानून की पढ़ाई की और साल 1942 में, जब 'भारत छोड़ो आंदोलन' पूरे जोर पर था, उन्हें मद्रास वकील संघ में नियुक्ति मिल गयी। लगभग उसी समय, उन्होंने विधवा, असहाय और अनाथ महिलाओं के लिए साक्षरता कार्यक्रम की भी शुरुआत की और उन्हें हाई स्कूल पास करने में मदद

की। इसी तरह के अभियानों में उन्होंने 'आंध्र महिला सभा' की स्थापना की, जो आज भी बहुत प्रसिद्ध है। यह महिलाओं के लिए एक स्वयंसेवी संगठन है, जो स्वास्थ्य, विकलांगता, पुनर्वास, कानूनी सहायता, और वृद्ध महिलाओं की मदद करती है।

समाज सुधार के कार्यों में उनकी लगातार भागीदारी और साथ ही, निर्दोष लोगों के हितों के लिए लड़ने वाली वकील के रूप में उनका करियर ऊँचाई पर जा रहा था और इसी सबको देखते हुए साल 1946 में उन्हें संविधान सभा का हिस्सा बनाया गया।

संचालन समिति की सदस्य होने के नाते, संविधान सभा की बहसों में उन्होंने मुखर रूप से हिन्दू कोड बिल के तहत महिलाओं के लिए संपत्ति के अधिकार की पैरवी की। इसके अलावा उन्होंने न्यायपालिका की स्वतंत्रता, हिन्दुस्तानी (हिंदी और उर्दू भाषा का मिश्रण) भाषा का राष्ट्रभाषा के तौर पर चयन और राज्य परिषद की सीट के लिए उम्र सीमा 35 साल से कम करके 30 साल करने का भी समर्थन किया।

8 अप्रैल, 1948 को हिंदू कोड बिल के तहत महिलाओं के लिए संपत्ति के अधिकार के विषय पर, उन्होंने महिलाओं को संपत्ति में समानाधिकार देने की पुरजोर पैरवी की!

इसी बीच, एक स्वतंत्र न्यायपालिका के समर्थन में उन्होंने कहा, 'न्यायपालिका की स्वतंत्रता एक ऐसी चीज़ है, जिस पर निर्णय लिया जाना है, और यह स्वतंत्रता बहुत हद तक न्यायाधीशों की नियुक्ति के तरीके पर निर्भर करती है। उन्हें यह कभी भी महसूस नहीं होना चाहिए कि उनकी नियुक्ति इस व्यक्ति या उस व्यक्ति और इस पार्टी या फिर उस पार्टी को जवाबदेह है। उन्हें महसूस होना चाहिए कि वे स्वतंत्र हैं।'

एक स्वतंत्र न्यायपालिका पर उनके विचार समय की कसौटी पर खरे उतरे हैं। संविधान सभा में अपने कार्यकाल के दौरान, उन्होंने कथित तौर पर अन्य सदस्यों के साथ मिलकर 750 संशोधन किए। स्वतंत्रता के बाद, साल 1950 में उन्हें योजना आयोग में शामिल किया गया। 44 वर्ष की आयु में, उन्होंने अपने दूसरे पति, चिंतामन देशमुख से शादी की, जो भारतीय रिजर्व बैंक के पहले भारतीय गवर्नर नियुक्त हुए। हालाँकि, उनकी शादी के समय चिंतामन भारत के वित्त मंत्री थे। उन्होंने भारत के पहले प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू और सुचेता कृपलानी (भारत की पहली महिला मुख्यमंत्री) की मौजूदगी में नागरिक विवाह किया था।

राष्ट्र-निर्माण के लिए समर्पित यह दंपति बहुत ही अलग था और कुछ सूत्रों की मानें, तो उन दोनों ने निश्चय किया था कि यदि उनमें से कोई एक कमाएगा; तो दूसरा निःस्वार्थ भाव से समाज

सेवा करेगा। आजादी के बाद, उन्होंने अपना जीवन कानून और समाज सेवा के लिए समर्पित कर दिया। वास्तव में, उनके अपार योगदान के कारण ही उन्हें भारत में 'सामाजिक कार्य की जननी' के रूप में जाना जाता है।

दुर्गाबाई सेन्ट्रल सोशल वेलफेयर बोर्ड की पहली अध्यक्ष भी थी। इस पद पर रहते हुए उन्होंने कई ऐसे कदम उठाये, जिन्होंने आज भारत में महिला-सशक्तिकरण की नींव रखी। उनका मानना था कि महिलाओं के हितों और स्तर में बढ़ावा बिना किसी बजटीय प्रावधान के मुमकिन नहीं होगा। इसलिए उन्होंने सेन्ट्रल सोशल वेलफेयर बोर्ड को देश में 30,000 से अधिक छोटे-छोटे एनजीओ से जोड़कर, सबसे बड़ा सिविल सोसाइटी नेटवर्क बनाया, जिसे सरकार द्वारा फंड किया गया। इसके जरिये उन्होंने महिलाओं के लिए छोटे आर्थिक कार्यक्रम आयोजित किये, जिन्हें आज हम 'स्वयं सहायता समूह' कहते हैं।

यह दुर्गाबाई ही थी, जिन्होंने भारत में पारिवारिक न्यायालयों की स्थापना का समर्थन किया। यह विचार, उन्हें आधिकारिक

भारतीय प्रतिनिधिमंडल के सदस्य के रूप में अन्य देशों जैसे की चीन, रूस और जापान आदि की यात्रा करने के बाद आया था।

'मैंने सोचा कि भारत जैसे देश के लिए, कानून व्यवस्था के अंतर्गत पारिवारिक न्यायालय की स्थापना काफ़ी तरीकों से मददगार रहेगी। यह न सिर्फ़ हाई कोर्ट और सुप्रीम कोर्ट के बोझ को कम करेगा, बल्कि परिवारों को टूटने से रोकने के लिए, और स्त्री-पुरुष, बच्चों की खुशियों को सहेजने के लिए भी एक अच्छा मंच होगा, जो उन्हें हमेशा साथ रहने के लिए प्रेरित करेगा', उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा।

9 मई 1981 को उनके निधन के बाद, साल 1984 में संसद ने आखिरकार पारिवारिक न्यायालय स्थापित करके फैमिली कोर्ट एक्ट पास किया। दुर्गाबाई देशमुख तो चली गयीं, लेकिन एक समान समाज की दिशा में उन्होंने जो भी कार्य किये; वे देश की हर एक पीढ़ी के लिए प्रेरणास्रोत हैं। उम्मीद है कि आने वाले वक्त में भी भारत की इस बेटी का नाम सम्मान और गर्व से याद किया जाता रहेगा।

मूल लेख : रिनचेन नोरबू वांगचुक

डॉ. पूर्णिमा सिन्हा

पृष्ठ 13 का शेष

अलावा, उन्होंने पूरे देश में अलग-अलग क्ले (मिट्टी) का अध्ययन भी किया। पीएचडी के बाद उन्हें स्टेनफोर्ड यूनिवर्सिटी में बायोफिजिक्स पर रिसर्च करने के लिए जाने का मौका मिला। वहां से वापस आकर अगले दो दशक तक, उन्होंने जियोलाजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया और द जेसीबी बोस इंस्टिट्यूट में अपनी सेवाएँ दीं।

अपने गुरु, प्रोफेसर बोस के पदचिह्नों पर चलते हुए, उन्होंने भी विज्ञान को बंगाली भाषा में आम लोगों तक पहुँचाने के लिए काम किया। वह प्रोफेसर बोस द्वारा शुरू किये गये बंगिया विज्ञान परिषद से जुड़ गयीं। उन्होंने इरविन श्रोडिंगर की लिखी किताब 'माइंड एंड मैटर' का बंगाली भाषा में अनुवाद किया और प्रोफेसर बोस के जीवन और काम पर भी उन्होंने बंगाली भाषा में कई किताबें लिखीं।

डॉ. पूर्णिमा सिन्हा का व्यक्तित्व विज्ञान से बढ़कर था। फिजिक्स के साथ-साथ उन्होंने हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत, चित्रकारी और तबला वादन में भी महारथ हासिल थी। उन्होंने 1970 में

भारतीय संगीत पर एन अप्रोच टू द स्टडी ऑफ़ इंडियन म्यूजिक किताब भी लिखी। इसके अलावा उन्होंने द जर्नल ऑफ़ एशियाटिक सोसाइटी के लिए जारवा सोंग्स एंड वैदिक चांट : ए कम्पेरिजन ऑफ़ मेलोडिक पैटर्न जैसे कई लेखों में भारत की लोक संगीत परंपरा के बारे में लिखा।

अपने पति डॉ. सुरजीत सिन्हा के साथ मिलकर उन्होंने शांति निकेतन में आदिवासी बच्चों के लिए एक अनौपचारिक स्कूल भी शुरू किया, जहां अपने प्रोफेशनल काम के साथ-साथ उन्होंने अपनी दोनों बेटियों, डॉ. सुकन्या सिन्हा और डॉ. सुपर्णा सिन्हा की परवरिश भी बेहतरी से की। उनकी दोनों बेटियों ने ही देश के उच्च विज्ञान संस्थानों के साथ काम किया है।

साल 2015 में 11 जुलाई को उनका निधन हो गया। लेकिन अपने पीछे वह जो विरासत छोड़कर गयी हैं, वह हमारी आने वाली हर एक पीढ़ी के लिए अमूल्य धरोहर है। फिजिक्स रिसर्च में उनका योगदान और कला के प्रति उनकी निपुणता, दोनों ही काबिल-ए-तारीफ़ है।

मूल लेख : रिनचेन नोरबू वांगचुक



मातोश्री रमाबाई

वह महिला जिसके त्याग ने भीमा को बनाया डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर

■ निशा डागर

//

कहते हैं कि एक सफल और कामयाब पुरुष के पीछे एक स्त्री का हाथ होता है और 'मातोश्री' रमाबाई ने इस कहावत को सच कर दिखाया था। बाबा साहेब ने भी अपने जीवन में रमाबाई के योगदान को बहुत महत्वपूर्ण माना है। उन्होंने अपनी किताब 'थॉट्स ऑन पाकिस्तान' को रमाबाई को समर्पित करते हुए लिखा, कि उन्हें मामूली-से भीमा से डॉ. अम्बेडकर बनाने का श्रेय रमाबाई को जाता है।

'भारतीय संविधान के निर्माता' और भारत के पहले कानून मंत्री, डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने अपने जीवन में हर कदम पर चुनौतियों का सामना किया लेकिन वे कभी रुके नहीं। उनके सफ़र में बहुत-से लोगों ने उनका साथ दिया। कभी उनके स्कूल में एक शिक्षक ने उनसे प्रभावित होकर उनको अपना उपनाम दे दिया, तो बड़ौदा के शाहू महाराज ने उन्हें उच्च शिक्षा के लिए इंग्लैंड भेज दिया था। इन सब लोगों के बीच एक और नाम था, जिसके बगैर बाबासाहेब की सफलता की कहानी अधूरी है। वह नाम है रमाबाई अम्बेडकर!

रमाबाई भीमराव अम्बेडकर बाबा साहेब की पत्नी थीं। आज लोग उन्हें 'मातोश्री' रमाबाई के नाम से जानते हैं। 17 फरवरी 1898 को जन्मी रमा के परिवार की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। बचपन में ही उनके माता-पिता का देहांत हो गया था। ऐसे में उनके मामा ने उन्हें और उनके भाई-बहनों को पाला।

साल 1906 में 9 वर्ष की उम्र में उनकी शादी 14-वर्षीय भीमराव से हुई। रमाबाई को भीमराव प्यार से 'रामू' बुलाते थे और वो उन्हें 'साहेब' कहकर पुकारती थीं। शादी के तुरंत बाद से ही रमा को समझ में आ गया था कि पिछड़े तबकों का उत्थान ही बाबा साहेब के जीवन का लक्ष्य है। और यह तभी संभव था, जब वे खुद इतने शिक्षित हों कि पूरे देश में शिक्षा

की मशाल जला सकें। बाबा साहेब के इस संघर्ष में रमाबाई ने अपनी आखिरी सांस तक उनका साथ दिया। बाबा साहेब ने भी अपने जीवन में रमाबाई के योगदान को बहुत महत्वपूर्ण माना है। उन्होंने अपनी किताब 'थॉट्स ऑन पाकिस्तान' को रमाबाई को समर्पित करते हुए लिखा, उन्हें मामूली-से भीमा से डॉ. अम्बेडकर बनाने का श्रेय रमाबाई को जाता है।

हर एक परिस्थिति में रमाबाई बाबा साहेब का साथ देती रहीं। बाबा साहेब वर्षों अपनी शिक्षा के लिए बाहर रहे और इस समय में लोगों की बातें सुनते हुए भी रमाबाई ने घर को सम्भाले रखा। कभी वे घर-घर जाकर उपले बेचतीं, तो बहुत बार दूसरों के घरों में काम करती थीं। वे हर छोटा-बड़ा काम कर, आजीविका कमाती थीं और साथ ही, बाबासाहेब की शिक्षा का खर्च जुटाने में भी मदद करती रहीं। उनके पांच बच्चों में से सिर्फ यशवंत ही जीवित रहे। पर फिर भी रमाबाई ने हिम्मत नहीं हारी, वे बाबासाहेब का मनोबल बढ़ाती रहीं। बाबासाहेब के और इस देश के लोगों के प्रति जो समर्पण रमाबाई का था, उसे देखते हुए कई लेखकों ने उन्हें 'त्यागवंती रमाई' का नाम दिया। 29 वर्ष तक बाबासाहेब का साथ निभाने के बाद साल 1935 में 27 मई के दिन एक लंबी बीमारी के चलते रमाबाई का निधन हो गया।



कालीमती

इस साहसी महिला ने किया था भारत का पहला कानूनन विधवा-पुनर्विवाह

■ निशा डागर

तारीख—7 दिसंबर 1856

पश्चिम बंगाल के कोलकाता में सुकास स्ट्रीट पर एक घर के बाहर लोगों का जमावड़ा लगा हुआ था। यह घर था प्रेसीडेंसी कॉलेज के एक प्रोफेसर राजकृष्ण बंदोपाध्याय का। उस दिन उनके घर में एक शादी हो रही थी और यह शादी पूरे देश में चर्चा का विषय था।

घर के बाहर गलियों में लोगों की इतनी भीड़ थी कि दुल्हन की पालकी को मंडप तक पहुंचाना मुश्किल हो रहा था। उस समय के सभी जाने-माने चेहरे यहाँ मौजूद थे। इनमें शामिल थे रामगोपाल घोष, हरचंद्र घोष, शम्भूनाथ पंडित, द्वारकानाथ मित्र जैसे लोग।

ये सभी पालकी को सही-सलामत भीड़ से निकालकर ला रहे थे। भीड़ इतनी थी कि काबू करने के लिए पुलिस बुलानी पड़ी। इसी सब में, एक व्यक्ति मंडप के पास खड़ा होकर कुछ दिशा-निर्देश दे रहा था ताकि कोई गड़बड़ न हो। ये थे मशहूर समाज-सुधारक ईश्वरचंद्र विद्यासागर! वही ईश्वरचंद्र विद्यासागर जिन्होंने हिन्दू विधवा पुनर्विवाह का कानून पारित करवाया था। यह एक्ट जुलाई 1856 में पारित हुआ और

इसके मात्र चार महीने बाद वे यहाँ एक विधवा की शादी करा रहे थे। जिसे देखने पूरा कलकत्ता उमड़ पड़ा था।

यह शादी थी 10 साल की उम्र में ही विधवा हो चुकी कालीमती की।

विद्यासागर ने कालीमती की शादी अपने ही एक साथी श्रीचन्द्र विद्यारत्ना से करवाई। इस शादी का जहाँ एक तरफ बहुत से लोगों ने विरोध किया तो दूसरी तरफ ऐसे भी लोग थे, जिन्होंने इस शादी का पुरजोर समर्थन किया।

हिन्दू विधवा पुनर्विवाह एक्ट पास होने के बाद होने वाला यह पहला कानूनन विधवा विवाह था, पर यह पहली बार नहीं था जब किसी विधवा का पुनर्विवाह हुआ हो। इससे दो दशक पहले ही एक बंगाली युवा यह नामुमकिन कार्य कर चुका था।

दक्षिनारंजन मुखोपाध्याय ने बर्दवान की रानी बसंता कुमारी से विवाह किया था। बसंता कुमारी, राजा तेजचन्द्र की विधवा थी। यह शायद पहली बार था जब किसी विधवा का पुनर्विवाह हुआ था और वह भी अंतर्जातीय। हालांकि, मुखोपाध्याय और बसंता के रिश्ते को किसी ने

स्वीकार नहीं किया और उन्हें अपना शहर छोड़कर लखनऊ में जाकर बसना पड़ा।

लेकिन मुखोपाध्याय का समाज में एक मुकाम था और वे रईस परिवार से थे, इसलिए उस समय ऐसा कदम उठाकर भी उन्होंने आराम से जीवन व्यतीत किया।

पर विद्यासागर को गरीब और आम विधवाओं की व्यथाओं ने प्रभावित किया और उन्होंने इस कुरीति के खिलाफ जंग छेड़ दी। इसके लिए उन्होंने संस्कृत कॉलेज के अपने दफ्तर में न जाने कितने दिन-रात बिना सोये निकाले ताकि वे शास्त्रों में विधवा-विवाह के समर्थन में कुछ ढूंढ सके।

और आखिरकार उन्हें 'पराशर संहिता' में वह तर्क मिला जो कहता था कि 'विधवा-विवाह धर्मवैधानिक है'! इसी तर्क के आधार पर उन्होंने हिन्दू विधवा-पुनर्विवाह एक्ट की नींव रखी। 19 जुलाई 1856 को यह कानून पास हुआ और 7 दिसंबर 1856 को देश का पहला कानून और विधवा-विवाह हुआ।

विद्यासागर महिलाओं के उत्थान के लिए हमेशा प्रयासरत रहे। कहा जाता है कि जिन भी विधवा लड़कियों की शादी वे करवाते थे, उन्हें फ़रों की साड़ी भी वही उपहार स्वरूप देते थे।

उस समय इन सभी कार्यों के लिए विद्यासागर को समाज से ज्यादातर विरोध और ताने ही मिले, लेकिन वे अपने आदर्शों पर अडिग रहे। उनके इन उसूलों को जहाँ समाज नकारता था, वहीं उसी समाज के कई तबके के लोग विद्यासागर को मसीहा मानते थे और उनका हौंसला बढ़ाते थे।

बताया जाता है कि शांतिपुर के साड़ी बुनकरों ने विद्यासागर के प्रति अपना सम्मान व्यक्त करने के लिए साड़ियों पर बंगाली में कविता बुनना शुरू किया था,

'बेचे थाको विद्यासागर चिरजीवी होए'

(जीते रहो विद्यासागर, चिरंजीवी हो!)

भले ही, इतिहास इस विधवा-पुनर्विवाह पर मौन रहा लेकिन यह शादी पूरे भारत की महिलाओं के उत्थान के लिए एक क्रांतिकारी कदम था।





//

15 की उम्र में ए. ललिता वैवाहिक बंधन में बंधी। तीन साल बाद जब उनके पति की मृत्यु हुई तब उनकी बेटी सिर्फ 4 माह की थी। प्रगतिशील विचारों व दृढ़ निश्चय वाली ए. ललिता ने जैसे समय में समाज के दबाव में न आकर अपनी पढ़ाई को आगे बढ़ाने की ठानी और इंजीनियरिंग करने का फैसला किया। यहीं से शुरू हुआ उनका वह सफर जिसने उन्हें भारत की पहली महिला इंजीनियर बना दिया।

ए. ललिता

कहानी भारत की पहली महिला इंजीनियर की

■ निधि निहार दत्ता

एक मध्यम वर्गीय तेलगु परिवार में जन्मी ए. ललिता की शादी तब कर दी गई थी जब वह मात्र 15 वर्ष की थीं। 18 साल की आयु में ये एक बच्ची की माँ बनीं और दुर्भाग्यवश इसी के चार महीने बाद ही उनके पति का निधन हो गया। 4 माह की श्यामला अब पूरी तरह से अपनी विधवा माँ की ज़िम्मेदारी थी। हालांकि मद्रास में तब सती प्रथा का चलन नहीं था फिर भी एक विधवा को समाज से अलग, एक निर्वासित व कठिन जीवन जीना पड़ता था। प्रगतिशील विचारों व दृढ़ निश्चय वाली ललिता ने जैसे समय में समाज के दबाव में न आकर अपनी पढ़ाई को आगे बढ़ाने की ठानी और इंजीनियरिंग करने का फैसला किया। यहीं से शुरू हुआ उनका सफर जिसने उन्हें भारत की पहली महिला इंजीनियर बना दिया।

27 अगस्त 1919 में जन्मी ललिता अपने माता-पिता की पांचवी संतान थीं। सात बच्चों के इस परिवार में एक ओर जहां लड़कों को इंजीनियर बनने की शिक्षा दी गई, वहीं दूसरी ओर लड़कियों को बुनियादी शिक्षा तक ही सीमित रखा गया। ललिता के पिता ने ललिता को भी 10वीं तक ही पढ़ाई कराई ताकि उनकी पढ़ाई उनके वैवाहिक जीवन के आड़े न आए।

एक माँ का संकल्प जो इतिहास बन गया—ललिता की बेटी श्यामला चेनुलु अमेरिका में रहती हैं और आज भी उनके

दिमाग में वो यादें ताजा हैं जिसमें उनकी माँ ने अपने आगे आई हर एक चुनौती का सामना हौसले से किया।

श्यामला बताती हैं, “जब मेरे पिता का निधन हुआ, उसके बाद मेरी माँ को वो सब सहना पड़ा जो उन्हें नहीं सहना चाहिए था। उनकी सास ने अपना 16वां बच्चा खोया था और इसका गुस्सा वे इस कम उम्र की विधवा पर निकालती थीं। परिस्थिति से जूझने का यह एक तरीका था और मैं आज समझ सकती हूँ कि उन पर क्या बीत रही थी। हालांकि मेरी माँ ने सामाजिक दबावों के आगे न झुकने की ठानी। वह आगे पढ़ना और एक अच्छी नौकरी पाना चाहती थीं।”

उन दिनों चिकित्सा की पढ़ाई औरतों के बीच प्रचलित थी। पर इस प्रोफेशन में आपको 24 घंटे उपलब्ध रहने की आवश्यकता पड़ती है और ललिता ऐसी नौकरी में नहीं जाना चाहती थीं जिसमें उन्हें अपनी बेटी को बीच रात में छोड़ कर निकलना पड़े। उन्हें 9 से 5 बजे वाली नौकरी ही चाहिए थी जिससे वे अपना बाकी का समय अपनी छोटी बच्ची के साथ बिता पाए।

अपने पिता और भाइयों की तरह ललिता ने भी इंजीनियर बनने का फैसला किया। ललिता के पिता पप्पू सुब्बा राव, मद्रास विश्वविद्यालय के

कॉलेज ऑफ इंजीनियरिंग, गिंडी (CEG) में इलेक्ट्रिकल इंजीनियरिंग के प्रोफेसर थे। उन्होंने वहाँ के प्रधानाचार्य केसी चाको, पब्लिक इन्सट्रक्शन के निदेशक आरएम स्ताथम से बात की। दोनों ने इस कॉलेज में एक महिला को दाखिला देने का समर्थन किया। यह CEG के इतिहास में पहली बार होने वाला था।

श्यामला बताती हैं, “लोगों की सोच के विरुद्ध, कॉलेज के विद्यार्थियों का रवैया बहुत सहयोगपूर्ण था। सैकड़ों लड़कों के बीच वह अकेली लड़की थीं पर उन्हें कभी किसी ने असहज नहीं होने दिया। वहाँ अधिकारियों ने उनके लिए एक अलग हॉस्टल का प्रबंध भी किया। जब वह कॉलेज की पढ़ाई पूरी कर रही थीं तब मैं अपने अंकल के पास रहती थी और वो सप्ताह के अंत में मुझसे मिलने आया करती थीं।”

1940 में अपनी पढ़ाई शुरू करने के कुछ महीनों बाद ही ललिता ने शिकायत की कि उनके हॉस्टल में उन्हें अकेला महसूस होता है, हालांकि कॉलेज में उन्हें कोई परेशानी नहीं थी। ऐसे में उनके पिता ने अन्य महिलाओं को इंजीनियरिंग करने के लिए प्रेरित करने और CEG में महिलाओं के दाखिले का प्रचार करने का काम किया। जल्द ही लीलम्मा जॉर्ज और पीके थ्रेसिया ने सिविल इंजीनियरिंग के कोर्स में दाखिला लिया।

वैसे तो दोनों ललिता से एक वर्ष जूनियर थीं पर फिर भी ये तीनों एक साथ ग्रेजुएट हुए। दरअसल, 1944 में द्वितीय विश्व युद्ध अपने चरम पर था और उस कारण इस विश्वविद्यालय ने इंजीनियरिंग कोर्स को कुछ महीनों पहले पूरा करने का निश्चय किया था।

भारत की पहली महिला इंजीनियर बनने के बाद का सफर—CEG से स्नातक होने के बाद, कुछ समय के लिए, ललिता ने शिमला में सेंट्रल स्टैंडर्ड ऑर्गेनाइजेशन और साथ ही चेन्नई में अपने पिता के साथ भी काम किया।

ललिता, थ्रेसिया और लीलम्मा के स्नातक होने पर इनके लिए CEG को अपने पहले से छपे हुए प्रमाणपत्रों में ‘HE’ को हटा कर ‘SHE’ लिखना पड़ा था।

उनके पिता राव ने जेलेक्ट्रोमोनियम (एक विद्युत संगीत वाद्ययंत्र) और इसके अलावा इलेक्ट्रिक फ्लेम प्रोड्यूसर व धुआँ रहित चूल्हे का आविष्कार किया। ललिता इस काम के दौरान अपने पिता के साथ थीं। लेकिन अपने पिता के वर्कशॉप में 9 माह काम करने के बाद ही ललिता आगे बढ़ने के अन्य रास्ते तलाशने लगी और जल्द ही कोलकाता के एसोसिएटेड इलेक्ट्रिकल इंस्टीट्यूट

में काम करने लगी।

“मेरी आंटी कोलकाता में रहती थी जिनका बेटा मेरी उम्र का था। उनसे हमारे काफी नजदीकी रिश्ते थे इसलिए माँ काम पर जाते समय मुझे उनके पास छोड़ जाती थी। मैं इसी तरह बड़ी हुई। हालांकि, आज मैं समझ पा रही हूँ कि मेरी माँ भारत में महिला शिक्षा के इतिहास में और साथ ही इंजीनियरिंग के इतिहास में भी कितनी महत्वपूर्ण हैं। उस समय, मैं बस इतना जानती थी कि मेरी माँ एक इंजीनियर हैं” श्यामला ने कहा।

आगे के वर्षों में ललिता के उपलब्धियों की सराहना अंतरराष्ट्रीय मंचों पर भी की गई। उदाहरण स्वरूप, 1964 में न्यूयॉर्क में आयोजित पहले इंटरनेशनल कॉन्फ्रेंस ऑफ वुमन इंजीनियर एंड साइंटिस्ट (ICWES) में उनको आमंत्रित किया गया। इसी कॉन्फ्रेंस के दौरान श्यामला को अपने माँ के प्रोफेशन का महत्व पहली बार पता चला।

श्यामला कहती हैं, “उनके जीवन से मैंने कुछ सीखा है तो लोगों के प्रति उनका असीम धैर्य और बोलने के बजाय कर दिखाने का उनका गुण। उन्होंने कभी दूसरी शादी नहीं की और न मुझे मेरे जीवन में एक पिता की कमी महसूस होने दी। उनका मानना था कि लोग हमारे जीवन में किसी उद्देश्य के लिए आते हैं और जब वह पूरा हो जाता है, तो वह चले जाते हैं। मैंने उनसे कभी नहीं पूछा कि उन्होंने दूसरी शादी क्यों नहीं की।” जब मेरे पति ने पूछा था, तब उन्होंने उत्तर में कहा था, “क्या एक वृद्ध की दोबारा देखभाल करने के लिए ? नहीं, शुक्रिया!”

अपने पूरे करियर में ललिता ने दो बातों का हमेशा ख्याल रखा : पहला, उनकी बेटी का पालन पोषण प्यार भरे माहौल में हो और दूसरा, एक पुरुष प्रधान समाज में उनका औरत होना किसी भी प्रकार की रुकावट न बने। न्यूयॉर्क कॉन्फ्रेंस में उन्होंने कहा भी था, “अगर मैं 150 साल पहले पैदा हुई होती तो मुझे मेरे पति के साथ चिता की आग में जला दिया गया होता।”

भारत की महिलाओं के लिए यह सौभाग्य की बात है कि उन्होंने एक ऐसा कदम बढ़ाने की हिम्मत दिखाई जिससे आगे अन्य महिलाओं के लिए इंजीनियर बनने के रास्ते खुल गए। मात्र 60 वर्ष की आयु में ललिता ने इस दुनिया से विदा ले ली पर अपने पीछे एक ऐसी प्रेरणा छोड़ गयीं जो आगे की पीढ़ी के लिए अनमोल है।

मूल लेख : तनवी पटेल

पृष्ठ 9 से पृष्ठ 21 तक के लेख hindi.thebetterindia.com से साभार लिए गए हैं।



द ग्रेट इंडियन किचन : भारतीय पुरुषों के पाखंड को बेपर्दा करती एक ज़रूरी फ़िल्म

■ गीता पांडे

बीवी रसोईघर में सब्जियाँ काट और छील रही है। कुछ पीस रही है। खाना बना और परोस रही है। बर्तन धो रही है। फर्श पर झाड़ू लगा रही है और सफ़ाई कर रही है। पति आराम से बैठ कर योग कर रहा है। सांस अंदर-बाहर कर रहा है। यह मलयालम भाषा में बनी एक कम बजट की फ़िल्म 'द ग्रेट इंडियन किचन' की कहानी है।

इस फ़िल्म ने बड़ी खूबसूरती से भारतीय परिवार के अंदर मौजूद पितृसत्तात्मकता को दिखाया है और रोज़मर्रा की ज़िंदगी में मौजूद उसकी भयावहता पर रौशनी डाली है।

इसे पहले से ही 'साल की एक उल्लेखनीय फ़िल्म' कहा जा रहा है। यह फ़िल्म 'इज़्जतदार' मध्यमवर्गीय घरों के अंधेरे रसोईघरों की कहानी दिखाती है। केरल में इस फ़िल्म पर काफ़ी चर्चा हो रही है। सोशल मीडिया पर भी घरों में मौजूद लैंगिक भेदभाव को लेकर कई मुश्किल सवाल उठाए जा रहे हैं।

इस फ़िल्म के डायरेक्टर जीयो बेबी कहते हैं कि, 'यह हर जगह की कहानी है। रसोईघर में एक महिला का संघर्ष भारत के लगभग सभी महिलाओं की कहानी है। पुरुष सोचते हैं कि महिलाएँ किसी मशीन की तरह होती हैं। वे चाय

बनाने से लेकर कपड़े धोने से लेकर बच्चों के पालने तक सभी काम करती हैं।'

वो बताते हैं कि 'द ग्रेट इंडियन किचन' की प्रेरणा उन्हें अपने रसोईघर से मिली। वो सुनाते हैं, '2015 में शादी होने के बाद मैं रसोईघर में बहुत सारा वक्त गुजारने लगा क्योंकि मैं लैंगिक समानता में विश्वास करता हूँ। तब मुझे यह एहसास हुआ कि खाना बनाने में बहुत झेलना पड़ता है।'

वो कहते हैं कि कुछ ही वक्त के बाद वो 'किचन की मुश्किलों, एकरसता और दोहरावपन से छुटकारा पाने की सोचने लगे।'

वो कहते हैं, 'मैं ऐसा महसूस कर रहा था कि मैं किसी जेल में फंस गया हूँ। और फिर तभी मैंने उन महिलाओं के बारे में सोचना शुरू किया कि जो इस चक्र से बाहर नहीं आ सकती हैं। इस एहसास ने मुझे परेशान करना शुरू कर दिया।'

फ़िल्म की शुरुआत एक शादी से होती है। ज्यादातर भारतीय शादियों की तरह यह भी एक अरेंज मैरेज है। इसमें दुल्हन और दूल्हे की मुख्य भूमिका में निमिशा सजयान और सूरज वेंजरामुडु हैं। शादी से पहले इनकी बस एक बार परिवार की मौजूदगी में मुलाकात और बातचीत होती है।

शादी में आए मेहमानों के जाने के बाद रोज़मर्रा की जद्दोजहद शुरू होती है। नई दुल्हन अपनी सास के साथ रसोईघर का रुख करती है। उसका काम यह देखना है कि उसका पति अच्छे से खाए-पीए और खुश रहे। क्योंकि वो मशहूर कहावत है कि ना कि पति के दिल का रास्ता उसके पेट से होकर जाता है।

रात में बिस्तर पर भी उसकी जिंदगी उतनी ही बदतर है। उससे इस बात की उम्मीद की जाती है कि वो रात में सेक्स करने के लिए तैयार रहेगी भले ही उसकी इच्छा हो या ना हो। भारतीय पितृसत्तात्मक व्यवस्था में महिलाओं की दिल की बात के लिए बहुत कम जगह है।

यह फ़िल्म नीस्ट्रीम ऐप पर दिखाई जा रही है। नेटफ्लिक्स और अमेज़न ने इसे अपने प्लेटफॉर्म पर दिखाने से इनकार कर दिया था। इस फ़िल्म को समीक्षकों खासकर महिलाओं की तरफ से काफ़ी सराहना मिल रही है।

इरिंजालकुडा शहर के क्राइस्ट कॉलेज की अंग्रेज़ी की

असिस्टेंट प्रोफेसर क्लिंटा पीएस कहती हैं, 'यह काफी खुद को जोड़ने का एहसास दिलाने वाली फ़िल्म है। फ़िल्म में कोई हिंसा नहीं है। किसी को बुरा नहीं दिखाया गया है। यह हमारे घरों में गहराई से मौजूद असंवेदनशीलता का वास्तविक चित्रण है।'

प्रोफेसर क्लिंटा कहती हैं कि उन्होंने अपनी माँ और दूसरी औरतों को रसोईघर में जूझते हुए देखा है क्योंकि केरल जैसे राज्य में खाना 'बहुत बड़े पैमाने' पर बनता है। 'वे सब्जी काटना, मसाला पीसना, गार्निशिंग और धुलाई करने जैसे कई काम करती हैं। इसमें बहुत समय लगता है। इसे थोड़ा सामान्य स्तर पर किया जा सकता है लेकिन हम नहीं करते हैं। क्योंकि एक महिला को यह कहा जाता है कि उसके लिए उसका पति और परिवार ही सब कुछ है। उनका वजूद सिर्फ उन्हें ही खुश रखने के लिए है। उन्हें सुपरवुमन बनने को कहा जाता है।'

प्रगतिशील केरल महिलाओं के मामले में पितृसत्तात्मक केरल देश के सबसे प्रगतिशील राज्यों में से है। केरल के बारे



में अक्सर कहा जाता है कि वो देश का इकलौता ऐसा राज्य है जहाँ 100 फीसद साक्षरता है। यहाँ बड़े पैमाने पर महिलाएँ संगठित क्षेत्रों में काम करती हैं। लेकिन क्लिंटा कहती हैं कि केरल का समाज भी उतना ही पितृसत्तात्मक है जितना कि देश के बाकी हिस्से। वो कहती हैं, 'केरल में हम महिला सशक्तीकरण की बात करते हैं। बड़े पैमाने पर महिलाएँ यहाँ काम पर जाती हैं लेकिन दिन खत्म होने पर उन्हें वो घर के सारे वो काम करने पड़ते हैं। एक बेहद प्रगतिशील और शिक्षित परिवार में भी यही देखने को मिलता है।'

क्लिंटा बताती हैं कि उनके अपने घर में किसी भी तरह की कोई लैंगिक भेदभाव नहीं है। वो और उनके पिता दोनों ही घर का काम मिलकर करते हैं। लेकिन उनके अपने माता-पिता के घर में मामला अलग है। उनके पति उनके स्कूल के दोस्त रहे हैं।

वो कहती हैं, 'पुरुष लैंगिक समानता की बात को लेकर सजग तो हैं लेकिन उनके अपने घर में यह उतना मायने नहीं रखता। ज्यादातर भारतीय मर्दों की तरह मेरे पिता भी दोहरे मापदंड रखते हैं। मेरी उनसे माँ के प्रति रवैये को लेकर गर्मगर्म बहस हो जाती है। वो एक मॉडर्न और प्रगतिशील पुरुष हैं लेकिन घर में मेरी माँ ही घर के सारे काम अकेले करती हैं।'

केरल में एक मशहूर कहावत है कि, 'आप भले ही प्रगतिशील हो लेकिन अपनी प्रगतिशीलता घर के दरवाजे पर रखिए।'

घरों में लैंगिक समानता को लेकर बहस

भारत में दुनिया के दूसरे हिस्सों की तरह ही देखभाल का काम महिलाओं के कंधों पर ही आता है। इसके लिए उन्हें किसी भी तरह का कोई भुगतान भी नहीं होता।

अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन की रिपोर्ट के मुताबिक साल 2018 में भारत में महिलाओं ने जहाँ अवैतनिक देखभाल के कार्य पर 312 मिनट खर्च किए थे तो वहीं पुरुषों ने इस काम पर अपने 29 मिनट खर्च किए।

ये वो हालात हैं जो 'द ग्रेट इंडियन किचन' अपने संदेश में बदलना चाहता है।

जीयो बेबी कहते हैं, 'महिलाएँ पुरुषों के बनाए जेल में रह रही हैं। पुरुष निर्णय लेते हैं और महिलाएँ मजदूर हैं। इसके लिए उन्हें कोई पैसा भी नहीं मिलता।'

'फ़िल्म के माध्यम से मैं महिलाओं को कहना चाहता हूँ

कि आप इस जेल से बाहर आइए। क्यों बर्दाश्त करते रहती हैं आप? यह आपकी भी दुनिया है। इसका आप भी आनंद लीजिए।'

वास्तव में बदलाव आने में अभी वक्त लगेगा, लेकिन 'द ग्रेट इंडियन किचन' ने जरूर घरों में लैंगिक समानता को लेकर बहस को जन्म दिया है।

मेरे एक मलयाली सहकर्मी ने मुझे बताया कि उनके सभी दोस्त और उनके परिवार अपने व्हाट्सएप ग्रुप में इस पर बात कर रहे हैं।

सोशल मीडिया पर आई प्रतिक्रिया

सोशल मीडिया पर भी इस पर खूब बात हो रही है। बहुत सारे लोग खासकर महिलाएँ ट्विटर, फ़ेसबुक और इंस्टाग्राम पर फ़िल्म को लेकर बातें कर रही हैं। वे अपने दोस्तों और फॉलोवर्स से फ़िल्म देखने की अपील कर रही हैं।

एक ने लिखा है, 'यह हमारी कहानी है।' तो एक दूसरी यूजर ने लिखा है। 'यह हमारे नजरिए को पेश करती है।'

किसी ने लिखा है, 'इस फ़िल्म की सबसे बड़ी खासियत यह है कि यह बढ़ाचढ़ा कर चीजों को नहीं दिखाती है और ना ही किसी पर उंगली उठाती है। यह फ़िल्म हमें दिखाती है कि कैसे मृदुभाषी सभ्य आदमी भी सबसे जहरीला हो सकता है।'

कुछ ने तो यहाँ तक अंदाजा लगाया कि 'द ग्रेट इंडियन किचन' की डायरेक्टर जरूर कोई महिला होगी।

कुछ ने लिखा है कि इस फ़िल्म की सबसे बड़ी कामयाबी यह है कि इसने पुरुषों में घबराहट पैदा कर दिया है। एक आदमी ने फ़ेसबुक पर लिखा है कि फ़िल्म देखने के बाद वो खुद को अपराधी महसूस कर रहे हैं।

एक ने लिखा है, 'मैं इस बारे में ज्यादा कुछ नहीं लिख सकता क्योंकि मैं उसी व्यक्ति (फ़िल्म में दिखाए गए पति) की तरह हूँ।' एक अन्य ने इसे 'आँख खोलने वाली' फ़िल्म बताया।

प्रोफ़ेसर क्लिंटा कहती हैं कि यह अच्छी बात है कि लोगों ने इस पर बात करना शुरू किया है लेकिन सदियों से चले आ रही इस सोच को बदलने में सालों लग जाएंगे।

वो कहती हैं, 'मैं इन मुद्दों पर अपने सहकर्मियों और क्लास में चर्चा करती हूँ। मैं अपने लेक्चरों के माध्यम से छात्रों को संवेदनशील बनाने की कोशिश करती हूँ। लड़के सैद्धांतिक तौर पर लैंगिक समानता की बात को समझते तो हैं लेकिन मैं इस बात को लेकर आश्वस्त नहीं हूँ कि वो अपना विशेषाधिकार छोड़ने को राजी हैं।'

साभार : bbc.com/hindi

इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067,

भारत, टेलीफोन : 091-011-26177904, टेलीफैक्स : 091-011-26177904

ई-मेल : prakashan.isd@gmail.com, notowar.isd@gmail.com / वेबसाइट : www.isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए

मुद्रण : डिजाइन एण्ड डाइमेंशंस, एल-5 ए, शेख सराय, फेज-II, नई दिल्ली-110017